

“ जो है सो ”

हास्य-व्यंग्यपूर्ण लेख और साहित्यकारों के रोचक संस्मरण

लेखक

आत्मानन्द मिश्र

भूमिका

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

1963

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-6

JO HAI SO

(Collection of Humorous Essays and Sketches)

by

Dr. Atmanand Misra

Rs. 4.00

© 1963. ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक

रामलाल पुरी, सचालक
आत्माराम एण्ड संस,
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6

शाखाएँ

हौज खास, नई दिल्ली
माई हीरा गेट, जालन्धर
चौडा रास्ता, जयपुर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
महानगर, लखनऊ-6

मूल्य : चार रुपए

प्रथम संस्करण 1963

मुद्रक

राकेश प्रेस
दिल्ली

प्रवेशिका

आधुनिक हिन्दी साहित्य में हास्यरस के लेखकों की संख्या कम है और शिष्ट हास्य के लेखक तो और भी कम हैं—साहित्य के इतिहास लेखकों का यह वक्तव्य आशिक रूप से ही सत्य है। हास्यरस की स्वतन्त्र कृतियाँ हिन्दी में अधिक संख्या में नहीं हैं, पर यह कहना सच नहीं है कि हिन्दी के लेखकों ने इस दिशा में कुछ किया ही नहीं। जिस प्रकार जीवन के विविध पक्षों में हास्य या विनोद भी एक पक्ष है और कोई चाहे भी तो चौबीस घंटे हँसी-मजाक नहीं कर सकता, उसी प्रकार हिन्दी के लेखकों ने समग्र रचनाओं में हास्य-विनोद को स्थान न देकर आवश्यक अवसरो पर उसकी सृष्टि की है।

प्रेमचन्द से लेकर फणीश्वरनाथ रेणु तक सभी उपन्यासकार और कथा-साहित्य के प्रणेता हास्य, व्यंग्य और विनोद का उपयोग करते आए हैं। कुछ लेखकों में व्यंग्य की प्रवृत्ति अधिक है तो कुछ में हास्य की और शेष में विनोद के प्रसंग अधिक मिलते हैं। निबन्धों में प्रतापनारायण मिश्र और स्वयं भारतेन्दुजी से लेकर महावीरप्रसाद द्विवेदी और शुक्लजी तथा नए युग में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के लेखन में हास्य और विनोद का पुट मिलता है। नाट्य साहित्य में भारतेन्दु युग के नाटक और प्रहसन हास्य से भरे-पूरे हैं। स्वयं प्रसादजी जैसे गम्भीर नाटककार ने भी अपने नाटकों में हास्य की योजना की है। अस्क और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक प्रच्छन्न हास्य और व्यंग्य के अच्छे उदाहरण हैं। समीक्षकों में पद्मसिंह शर्मा की व्यंग्यात्मक और परिहासात्मक शैली काफी प्रसिद्ध है। साहित्य का कोई भी अंग हास्य-व्यंग्य से अछूता नहीं है। यहाँ तक कि कविता के माध्यम से भी प्रचुर हास्य और व्यंग्य-विनोद की अवतारणा हुई है। छायावादी कविता रहस्य और अध्यात्म से जुड़ी हुई है परन्तु निराला जैसे व्यक्ति वहाँ भी हास्य और व्यंग्यप्रधान रचनाएँ कर चुके हैं। उनकी 'कुकुरमुत्ता' कविता हिन्दी काव्य में हास्यरस का उदाहरण है।

यह सही है कि ये सभी लेखक 'पाट टाइम' हास्य और विनोद के लेखक हैं, 'फुल टाइम' नहीं। कदाचित् इसीलिए नए हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में यह धारणा बन गई है कि इसमें रोचकता और तरलता का अंश कम है। ठोस, गम्भीर और बोझिली सामग्री अधिक है। पर 'फुल टाइम' हास्य लेखक किसी भी साहित्य में अधिक नहीं होते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। जिस प्रकार सामाजिक जीवन में हँसोड़ व्यक्ति के प्रति सम्मान का भाव कठिनाई से उत्पन्न होता है और उस के गम्भीर वक्तव्य भी लोगो के द्वारा उपेक्षित होने लगते हैं, उसी प्रकार केवल मात्र हास्य और व्यंग्य के लेखक साहित्य में बहुत ऊँची प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकते। साहित्यिक इतिहास ग्रन्थों में भी हास्यरस के लेखकों के लिए एक छोटा-सा अध्याय जुड़ जाना भी बहुत समझा जाता है, भले ही उन हास्य लेखकों ने सामाजिक और वैचारिक क्षेत्रों में बहुत बड़े महत्व का काम किया हो। हास्य रस का लेखक राजदरबारों में भी उतनी ऊँची निगाह से नहीं देखा गया जितनी ऊँची निगाह से वीर या शृंगार रस के लेखक देखे गए हैं।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हास्य-विनोद के विषय ढूँढना और आदि से अन्त तक उन्हीं पर कलम चलाना काफ़ी कष्टसाध्य काम है। मानव-जीवन के गम्भीर प्रवाह में सघर्षमयी परिस्थितियों के वाताचक्र में, जिसे ससार कहते हैं, हास्य और विनोद की अनवरत साधना करते रहना सामान्य व्यक्तियों के बूते की बात नहीं। विभिन्न त्रिपयों के प्रसंगों और आख्यानों को लेकर साहित्य-रचना करना यदि साधारण वस्तुओं का व्यापार कहा जाय तो हास्य-विनोद की विशिष्ट कृतियाँ प्रस्तुत करना हीरे और मोतियों के क्रय-विक्रय का कार्य कहा जायेगा। हिन्दी साहित्य में विशुद्ध हास्य रस के लेखक इसीलिए अधिक संख्या में नहीं मिलते, परन्तु जब उनमें से किसी एक से हमारी भेंट हो जाती है सब उसकी कृतियाँ विशेष सलग्नता के साथ पढ़ी जाती हैं और उसका बाजार भाव ऊँचा माना जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री आत्मानन्द मिश्र ऐसे ही लेखको में से है। हम मानते हैं कि उन्होंने पेशेवर साहित्यिक का बाना नहीं अपनाया, पर जो थोड़ी-सी चीजे उन्होंने लिखी हैं, वे सहसा भुलाई नहीं जा सकती। हास्य और विनोद के अनेक प्रकार और अनेक स्तर हैं। एक हास्य अधिक खुला और प्रगल्भ होता है, दूसरा हास्य अधिक सूक्ष्म और कल्पनाप्रधान होता है। एक हास्य में अतिरजित वर्णनों की विशेषता रहती है, तो दूसरा हास्य अधिक सहज और गम्भीर रहता है। हास्य-रस के कुछ लेखक नग्नता और कुरूपता की ओर काफी दूर तक चले जाते हैं। पर मर्यादाओं के अन्तर्गत हास्य का निर्माण काफी कठिन काम है। किसी तथ्य या विचार के निर्देश के लिए बौद्धिक हास्य की सृष्टि करना तो और भी दुष्कर कार्य है।

श्री आत्मानन्दजी ऐसे ही दुष्कर कार्यकर्ताओं में से हैं। उनकी तीन कृतियाँ अब तक प्रकाशित हुई हैं। पहली कृति 'मजे में तो है' विनोदात्मक अधिक है। उसमें छोटे-छोटे प्रसंगों को लेकर वर्णात्मक रीति में कहानियाँ कही गई हैं। इस हास्य पुस्तक में वर्तमान नागरिक जीवन की आन्तियाँ, मिथ्या-कैशनो और अन्ध-विश्वासों आदि पर परिहासात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। मिश्र जी का हास्य और विनोद किसी न किसी विचारसूत्र को लेकर चलता है। निरुद्देश्य या काल्पनिक हास्य की योजना उन्होंने नहीं की है। यह ठीक है कि उनका उद्देश्य या प्रयोजन कभी खुलकर सामने नहीं आता। पर थोड़ा ही आगे बढ़ने पर उनके उद्देश्य का आभास मिलने लगता है। कदाचित् यही हास्य रस का मध्यम मार्ग है, जिसमें न तो आवरण की अधिकता होती है और न अनावरण की।

अपनी दूसरी हास्य पुस्तक 'नमस्ते' में आख्यानक या प्रसंग-प्रधान शैली से हटकर मिश्रजी हास्य की निबन्धात्मक शैली अपनाते हैं और किसी एक विषय को लेकर पूरे निबन्ध में इसका विनोदात्मक उपस्थापन करते हैं। स्पष्ट है यह शैली पूर्ववर्ती शैली से अधिक प्रौढ़ और विचार-प्रमुख है। 'नमस्ते' के हास्य निबन्धों में मिश्रजी अपने पूर्वज निबन्धकार

प्रतापनारायण मिश्र से अच्छी तरह टक्कर लेते हैं। इन निबन्धों में अनुभव की व्यापकता ही नहीं, पांडित्य की प्रचुरता भी परिलक्षित होती है। विविध शास्त्रों के ज्ञान के साथ जीवन के बहुमुखी अंगों का समाहार 'नमस्ते' पुस्तक में सफलता के साथ किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'जो है सो' में मिश्रजी एक कदम और आगे बढ़े हैं। उन्होंने शास्त्रीय और दार्शनिक विषयों को अपनाया है और उन पर विनोद-प्रधान सृष्टियाँ उपस्थित की हैं। 'नमस्ते' में यदि अनुभवों और विचारों की प्रधानता है तो 'जो है सो' में चिन्तनात्मक प्रवृत्ति और भी समृद्ध रूप में प्रकट हुई है। इस पुस्तक में वह एक अन्य क्षेत्र में भी प्रवेश करते दिखाई देते हैं। वह है साहित्यिक शोध का क्षेत्र। भारतेन्दु से लेकर आज तक के अनेकानेक साहित्यिकों के जीवन में आये हुए हास्य और व्यंग्य के प्रसंगों पर नई और मौलिक खोजें उन्होंने की हैं। इस प्रकार मिश्रजी क्रमिक रीति से अपनी विनोदात्मक रचनाओं और कृतियों को अधिकाधिक गम्भीर और प्रौढ़ बनाते जा रहे हैं।

यदि 'मजे में तो है' हास्यरस की स्नातक कक्षा की कृति मानी जाएगी तो 'नमस्ते' उनकी 'मास्टर' उपाधि की कृति कही जाएगी और 'जो है सो' उनका प्रथम शोध ग्रन्थ स्वीकार किया जाएगा जो पी-एच० डी० के उपयुक्त है। परन्तु मिश्रजी अपने नाम के साथ डी० लिट० की उपाधि लगाते हैं। इससे एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। उनकी डी० लिट० की हास्य कृति अब तक अनुभूति की भूमिका पर है, अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नहीं आई। इसलिए यह आशा करना सर्वथा उचित होगा कि मिश्रजी अपनी डी० लिट० उपाधि के अनुरूप और भी उच्च स्तर की हास्यकृति हिन्दी के पाठकों को भेंट करेंगे। यही क्यों उनसे यह भी आशा की जाती है कि एक नहीं अनेक हास्य कृतियों को प्रस्तुत करके अपनी उपाधि को उत्तरोत्तर पुष्ट बनाते और पुनर्नवता प्रदान करते रहेंगे।

क्रम

साहित्य

1. भूमिका	3
2 साहित्य	9
3. व्याकरण	14
4. कवि-सम्मेलन	20
5 हास्य	25
6. इनीशियल्स	33
7. कुछ श्रेष्ठ क्षिप्रोत्तर	40
8. ग्रौलोचना पाठ	47
9. तीन का अंक	52
10. अफवाह	57
11 आपका स्वरूप	64
12 नाम बदलने पर	69
13 जो है सो	75

साहित्यकार

14. भारतेन्दु	85
15. कवीन्द्र	103
16. आचार्य	118
17. हरिऔध	132
18. महात्माजी	145
19. बाबू साहब	157
20. प्रेमचंद	173
21. पण्डितजी	191
22. प्रसाद	201
23. निराला	216

भाई साहब

पण्डित ब्रह्मानन्दजी मिश्र

को जिन्हें

गम्भीर बातों के विनोदात्मक

पक्ष की भी परख है

साहित्य

भूमिका

कोई पुस्तक लिखिए भूमिका का प्रश्न पहले या पीछे अवश्य उठता है। अगर भूमिका न हुई तो पुस्तक अपूर्ण समझी जाती है। बिना दरवाजे के मकान और बिना विज्ञापन के दूकान की तरह उसमें घुसना या इसका चलना मुश्किल हो जाता है। कोई नया कपड़ा बनवाइये तो बिना काज-बटन लगे वह अधूरा ही रहता है। कोई नया कारखाना खोलिए उद्घाटन भाषण बिना सब फीका लगता है। किसी से विदा लीजिए तो यह कहना लाजमी हो जाता है कि “भाई कहा-सुना माफ करना”। नहा-धोकर चन्दन-टिकुली लगा लेने से कितनी पूर्णता आती है। भद्र पुरुष के नाम के सामने श्री, पंडित, मौलाना चस्पा करना शिष्टाचार माना जाता है। इन्हीं की तरह पुस्तक के पहले भूमिका का होना जरूरी होता है।

भूमिका का अर्थ ‘अल्पार्थे कन्’ के सिद्धान्त से छोटी-सी भूमि होता है। फिर ठहरी वह भूमि अतएव उसमें दुनिया भर की बातें आ जाना स्वाभाविक है। पहली बात जिसका भूमिका से पता लगता है वह है ‘पुस्तक की भूमि का है?’ लेखक किस जमीन पर खड़ा है? वह किन मुद्दों को लेकर मैदान में उतरा है? उसने डेढ़-दो सौ पन्नों में क्या बका-भका है, किस मत को प्रतिपादित किया है? किस कुरेदन के कारण बकवास की है? भूमिका में पुस्तक की डिजाइन और योजना की चर्चा होती है जिससे कम अक्ल वालों को समझने में सहूलियत हो। भूमिका रेखागणित के एक साध्य के समान है जिसमें पहिले सामान्य प्रतिज्ञा दे दी जाती है और फिर उसकी उत्पत्ति तथा हल पूरी पुस्तक में बिखेर दिए जाते हैं। यदि भूमिका पढ़कर पाठक पुस्तक के अन्त तक पहुँचे तो

बरबस उसके मुँह से 'क्यू० ई० डी०' निकल पड़ेगा। भूमिका एक प्रकार का बीमा है जो भावी रिस्क को कवर करने के लिए किया जाता है। छिद्रान्वेपक आलोचक समझ ले कि लेखक अमुक विषय के अमुक पक्ष का पक्षी है, उसी पर कलम तोड़ेगा किसी अन्य पर कलम कुठार न चलाएगा। तो वे पुस्तक का मूल्यांकन उसी सीमित दृष्टिकोण से करे, आँखें फाड़कर किसी अन्य नज्जारे को देखने की अपेक्षा न करे। विशेषज्ञों की खोपड़ी में घुसी विशेषता पुस्तक में न मिलने पर वे चौक पड़ते हैं, बरनि लगते हैं, चिल्लपो मचाते हैं। ऐसी दुर्घटना से बचने के लिए यह बीमा किया जाता है।

भूमिका लेखक की ओर से पाठक को एक चिरियाविनती है। दुनिया की हर चीज, हर विषय में पाठक की कुछ धारणा, कोई साहचर्य किंचित् रागद्वेष पहले से ही रहता है। चाहे वह ठीक हो या गलत इससे सरोकार नहीं। मगर पाठक उससे इतना चिपका रहता है जैसे भैंस के जोक। इन धारणाओं के पँनेपन को कुण्ठित कर देना, राग-द्वेषों की कोरो को गुलिया देना, साहचर्य को ढुलमुल कर देना, जोको को झकझोर देना ताकि वे पग-पग पर पुस्तक में व्यक्त विचारों से ठोकर न खाएँ, भिडन्त न करे—यह काम भूमिका का होता है। वह पाठक को मनाने, सहलाने और पुचकारने का काम करती है। पुस्तक पढ़ने के लिए उसके दिमाग को दुरुस्त कर रास्ते पर लगाती है। पाठक पर धीरे से हाथ फेर कर उसकी नकेल पुस्तक की ओर डगरा लेती है।

यह तो हुआ भूमिका का प्रयोजन। अब उसके प्रकार देखिए। भूमिका तीन प्रकार की होती है—छोटी, बड़ी और मझोली। छोटी भूमिका 'दो शब्द' कहलाती है। किन्तु दो शब्दों की आड़ में सैकड़ों और हजारों भी सुनाए जा सकते हैं। न जाने गणित के किस सिद्धान्त से दो बराबर दो हजार का समीकरण ठीक माना जाता है? बड़ी भूमिका 'आमुख', 'प्राक्कथन' और 'वक्तव्य' के रूप में आती है। 'आमुख' का 'आ' प्रत्यय पर्यन्त के अर्थ में प्रयोग होता है जैसे आजन्म, आमरण,

आसमुद्र इत्यादि । अतएव जब लिख-लिख कर गले तक ठुस जाता है तब आमुख लिखा जाता है । प्राक्कथन घोषणा करता है कि पश्चात् कथन भी किया गया है जिसे बाँचने के लिए तैयार रहिए । पता नहीं वक्तव्य भाडने की आवश्यकता क्यों पडती है जब पुस्तक मे उक्त, प्रोक्त, पुनर्युक्त सभी कुछ हो चुकती है । बड़ी भूमिका का विस्तार ससीम से अस्सीम तक हो सकता है । दस-पन्द्रह से पचास-पचपन पृष्ठों तक इसकी साधारण मार होती है । मानो पुस्तक के साथ उसकी एक बच्ची, लघु कौमुदी लगी रहती है जो मूल की टीका-टिप्पणी, उसकी कुजिका का काम करती है । बर्नाड शा और हरिऔध ऐसे प्रस्तावनात्मक व्यक्तियों की भूमिका सारी पृथ्वी की परिक्रमा करा देती है, जिसे पढ लेने पर फिर पुस्तक पढना इतना आवश्यक नहीं रह जाता । मझोली भूमिका इन्ही छोटी-बड़ी की सीमाओं के बीच कहीं खोती जान पडती है जिससे जितना नैकट्य स्थापित कर लेती है उसी के नाम से चल निकलती है । अपना स्वयम् का कोई नाम धराने मे हिचकिचाती है । उपोद्घात एक उप आघात सा लगता है । पुस्तक तो पाठक पर एक बडा आघात करती ही है । उसके पहले एक छोटा आघात करके उसकी सहनशीलता की आजमाइश कर ली जाती है । मुखबन्द का उद्देश्य आलोचको का मुँह बन्द करने का रहता है । उसमे अक्लबदो के लिए 'इशारा काफी अस्त' समझा जाता है और अन्य के लिए ज्ञान गाठ का जाता है ।

भूमिका खूब कलम छिडक कर लिखी जाती है क्योंकि उसी पर पुस्तक का पूरा दारोमदार आ पडता है । शुरुआत एक माफीनामे से की जाती है जिसमे लेखक मुद्रित होकर प्रकाशित होने के लिए क्षमा याचना करता है । उस विषय पर अनेक सुन्दर ग्रन्थ विद्यमान है फिर उसे अपनी कलम घिसने की क्या आवश्यकता आ पडी ? चर्वित-चर्वण का फिर पगुरियाने की क्या जरूरत ? प्राचीन पर कौन अर्वाचीन रोशनी फेकी जा रही है ? कौन नई बात, नया तरीका, नवीन प्रस्तुती-

करण अपनाया जा रहा है ? किन मानो मे यह ग्रन्थ इसी विषय के अन्य ग्रन्थों से भिन्न है ? इत्यादि अनेक बिना पूछे प्रश्नों का उत्तर लेखक स्वतः दे डालता है—केवल आत्मरक्षार्थ । चित्रैर्विक्रयै स्वकार्योत्थै प्रस्तुता ।

तदनन्तर लेखक अपने व्यक्तित्व के विराट् रूप का दिग्दर्शन कराके आप पर रोब गालिब करता है, आतंकित बनाता है । मैं कौन बला हूँ, कितना बड़ा अफलातून हूँ, कैसे-कैसे अनुभवों की गठरी बाँधे हूँ, क्यों लिखने का विशेषाधिकारी हूँ इत्यादि अनर्गल बातें लिख मारता है । कभी-कभी बहाना यह रहता है कि लेखक स्वयम् पुस्तक लिखने वाला न था किन्तु लोगो ने आग्रह किया, मित्रो ने सत्याग्रह किया, पाठको ने आन्दोलन उठाया कि उसके प्रकाण्ड पाण्डित्य से ससार को वञ्चित न किया जावे । अतएव उनकी इच्छा पूर्त्यर्थ यह करना ही पडा । अहम् के बाद त्वम् आता है जो पुस्तक लिखने में सहायता करने वालों की एक लम्बी फ़ैहरिस्त होती है । उसमें ऐसे चोटी और एडी के आदमियों का नाम रखा जाता है मानो की कोई ब्रेन-ट्रस्ट स्थापित हुआ हो जो पुस्तक लिखने का काम करता हो । येन-केन-प्रकारेण श्रीमती का नाम भी घुसेड दिया जाता है जिससे उनका सुशिक्षित होना जगत् विदित हो सके और साथ में यह भी कि बिना उनके इशारे के घर में पत्ता नहीं हिलता । मित्रता दृढ करने के लिए मित्रों के नाम और गुरुडम जमाने के लिए शिष्यों की नामावलि भी जोड दी जाती है । अगर इसमें कुछ भूल जाता है तो वह है गुरुजनों का नाम जिनकी जूठन खाई है, ग्रन्थों की सारिणी जिनकी छुपे-लुके चोरी की गई है तथा उस पाण्डुलिपि का उल्लेख जिस पर डाका डाला गया है । 'रसा अनता भूमिका, इल्ला-बिल्ला कहि जाय' ।

अन्त में 'कहा सुना माफ करना' की बारी आती है । निवेदन किया जाता है कि 'यदि कोई भूल हो गई हो तो उसे अभिज्ञ पाठक क्षमा करे ।' क्यों क्षमा करे ? अभिज्ञ पाठक अनभिज्ञ लेखक की पुस्तक ही क्यों

पढे ? फिर इसमे 'यदि' मज्जेदार है । लेखक ने यह भी ठीक-ठीक जानने की कोशिश नहीं की कि भूलें हुई है अथवा नहीं । और तुरा यह कि भूले बताकर लेखक को कृतज्ञ करें । क्या खूब, खुद पढने के बाद पढाने भी बैठो । मुद्रिस बनकर गलतियाँ जाँचो और टिकट लगाकर उनके पास भेजो भी । फीस भी गुरु के मत्थे रहे । यह कृतज्ञ बनने के लक्षण हैं कि कृतघ्न ? यदि इतने कमजोर थे तो पुथन्ना क्यों लिख मारा, किसी उस्ताद का हुक्का भरना था । मगर विचार कितने ही गलत व्यक्त किये गए हों उनके लिए माफी बिरला ही मांगता है । माफी मागी जाती है मुद्रण की त्रुटियों के लिए । इनकी जिम्मेदारी उनकी नहीं प्रेस के भूतों की रहती है न । उनके लिए तो हिन्दी के बड़े आचार्य का ही जवाब उचित है । एक पुस्तक की आलोचना 'सरस्वती' मे करते हुए उन्होंने लिखा 'छापे की गलतियों को क्यों माफ किया जावे ? क्या पुस्तक के लिए पैसा नहीं लेगे ?'

इन भूमिकाओं को पढता कौन है ? इन्हे पढने वाले होते हैं या तो पढवकर ज्वान जो मुखपृष्ठ से मुखपृष्ठ तक के प्रत्येक मुद्रित शब्द को चाट डालते हैं या फिर समालोचक जिन्हे नुक्ताचीनी का मसाला जुटाना पढता है । मुद्रक और प्रकाशक को भी इसे भुगतना ही पड़ता है । साधारण पाठक तो पुस्तक पाते ही उसमे पिल पड़ता है । ऊमिका-भूमिका से उसको कुछ मतलब नहीं रहता । फिर न जाने यह भूमिका लिखी किसके लिए जाती है । कि करिष्यन्ति वक्तारः श्रोता यत्र न विद्यते ?

भूमिका लिखने और भूमिका बाँधने मे बड़ा अन्तर है । लिखना तो प्रायः सभी कर लेते हैं किन्तु बाँधना बिरले के ही सामर्थ्य की बात है । उसके लिए तो व्यक्ति को चतुर-चूड़ामणि, कौशल सिद्धहस्त तथा किंचित् भविष्यदृष्टा होना चाहिए । वह ऐसा हो कि दूर की कौड़ी देख सके । आस्ताने यार पर मत्थे को इतना रगड़ सके कि मिट जाए लिखा हुआ तकदीर का । वह स्वयं भूमिका नहीं लिखता । किसी दिग्गज,

विषयी विद्वान, विशेषज्ञ अथवा ख्यातिप्राप्त नाम को फाँसकर दो शब्द लिखा लेता है। पुस्तक प्रकाशित होने के पूर्व ही सम्मतियाँ बटोर लेता है और उन्हें यत्र-तत्र सर्वत्र बिखेर देता है। पुस्तक नहीं है किन्तु उसकी भूमिका बध चुकी है, उसका बाजार तैयार हो चुका है। शानदार उद्घाटन की प्रतीक्षा कीजिये।

पता नहीं यह भूमिका लिखने की प्रथा कब से चल पड़ी। 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' के अनुसार तो पुस्तक का आरम्भ आशीर्वचन, नमस्कार या वस्तुनिर्देश से होना चाहिए, भूमिका से नहीं। इसीलिये हमारे प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थों में भूमिका बांधने का प्रयत्न नहीं किया गया है। नाटकों की भूमिका में तो नटी और सूत्रधार के रगमच पर आते ही नाटकीय मजा शुरू हो जाता है। वह भूमिका तो नाटक का एक अभिन्न अंग ही कहलाती है। नाटक के फाटक पर सतरी बनकर नहीं डटती। मुझे तो उस कवि की उक्ति बड़ी पसन्द आई जिसने यह पूछे जाने पर कि आपने अपने महाकाव्य के आरम्भ में भूमिका क्यों नहीं लिखी, उत्तर दिया 'कौन-सी ऐसी बात है जिसे मैं एक हज़ार पृष्ठों में नहीं कह सका जिसके लिए भूमिका बाँधी जाए।'।

यह तो हुई भूमिका की भूमिका। 'जो है सो' आपके सामने हाजिर है। हाजिर में हुज्जत की क्या आवश्यकता।

‘साहित्य समाज का दर्पण है ।’ न जाने यह नापिताई उक्ति किस केशकर्तनालय में बनी है जहाँ के अध्यक्ष के तत्वावधान में चलने वाले सभी कार्यों में दर्पण आगे-पीछे लगा रहता है । यदि वह किसी दर्पणकार की सूझ है तो क्या कहने ? बिना यह बताये कि दर्पण में दुनिया-भर की चीजें दिखाई देती हैं उनका व्यवसाय कैसे चलेगा ? बताइये समाज भी कोई स्थूल चीज होती है जिसकी शकल दर्पण में दिखाई दे ? आप कहेंगे घर-द्वार, नर-नारी, पशु-पक्षी, सड़क-बाजार, खेत-खलिहान सब स्थूल ही तो होते हैं । परन्तु समाज का यह सब लवाजमा नदी का तल-पाट ही है, उसकी श्रोतधारा तो जन-जीवन का प्रवाह होता है । समाज कोई खालिस ढाँचा या बेरोकटोक कार्यवाहियों का मैदान नहीं जो बैठे-ठाले दर्पण में दिखाई दे । वह तो सतत विकासशील भूत से निकला, वर्तमान में भागता और भविष्य में समाता रहता है । उसमें अनेकानेक भंभटी विचार-सवेग और हिचकिचाहट लिए टेढ़े-झड़े प्रयोजनों की एक शृंखला रहती है । उसमें मानव-सम्बन्धों की एक लड़ी पड़ी होती है । उसकी बेशुमार आकाशाएँ, भावनाएँ, परम्पराएँ और निष्ठाएँ होती हैं । ये सब स्थूल तो नहीं हैं, उन्हें मूर्तिमान बनाना भी कठिन है । फिर इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं और सम्बन्धों को दर्पण में कैसे देखा जा सकता है ।

अगर दर्पण भी है तो फिर कैसा दर्पण ? दर्पणो-दर्पणो बिम्ब भिन्नम् । दर्पण भी कई प्रकार के होते हैं । पेटखलाऊ नतोदरू जिसमें

शकल बड़ी दिखाई देती है और सीना उभार उन्नतोदर जिसमें आकृति छोटी दिखाई देती है। लेकिन आकृति विकृत करना दोनों का धर्म है। तो क्या समाज का विकृत रूप ही साहित्य माना जाए? आप कहेंगे कि दर्पण समतल है जिसमें स्वरूप बराबर आता है। उसमें भी तो दूरी के अनुसार बिम्ब छोटा-बड़ा हो जाता है। तीन डायमेशन घटकर दो ही रह जाते हैं और पहलू की उलट-फेर या पाक्षिक व्युत्क्रम हो जाता है। फिर इन दर्पणों का प्रतिबिम्ब सच्चाई से कोसों दूर भागता है, काल्पनिक होता है। क्या साहित्य कोरी कल्पना होता है, वास्तविक समाज का अक्स नहीं पकड़ता? लोगो ने उपमान भी कैसा ढूँढा कि उपमा पूरी नहीं उतरती। वे शायद कहे कि लुप्तोपमा है किन्तु उसे भी तो साधारण धर्म निबाहना चाहिए। ऐसी उपमा किस काम की जिसमें समाज का धर्म ही लुप्त हो जाए।

साहित्य समाज का दर्पण है कि प्रतिबिम्ब? यह काज-कारण की अच्छी भूल-भुलैया है। दर्पण तो कारण होता है, साहित्य काज। साहित्य का कारण तो है साहित्यिक। अन्तिम शब्द पर बाबू रामचन्द्र वर्मा नाक-भौं सिकोड़ेंगे अतएव कहिये साहित्यकार। दर्पण माध्यम है प्रतिबिम्ब का, उसी प्रकार साहित्यकार माध्यम है साहित्य का। समाज के जन-जीवन के अनुभवों को अपने सशक्त व्यक्तित्व के भावात्मक प्रवाह में पखार कर साहित्यकार आपको नजर करता है। दर्पण की तरह साहित्यकार भी अपने दृष्टिकोण से उसे विकृत बनाता है। उसका दृष्टिकोण जीवन से भगेडू या भिडाऊ का हो सकता है, चरित्र वर्गीय या व्यक्तिनिष्ठ हो सकता है, आत्मपरक या परव्ययक हो सकता है। इसी कारण से तो सूर, तुलसी और केशव ने एक ही युग और समाज की उपज होते हुए भी अलग-अलग फसल काटी है। अगर दर्पण है तो इतने दीर्घकाय समाज के लिए इतना बड़ा दर्पण कहाँ से लाया जाएगा, कहाँ रखा जाएगा? साहित्यकार तो अपनी आँखों के लेन्स से चारों ओर की प्रकाश-किरणें पकड़ लेता है फिर अपने कोण से उनका

कोण मिलाकर त्रिकोण तैयार कर देता है। उस त्रिकोण के शीर्ष-बिन्दुओं पर मानव-संवेगों के आधार जगमगाते हैं और उनको जोड़ने वाली होती है समाज की शक्तियाँ जो मार्गदर्शन, प्रभावोत्पादन और आदर्श प्रतिपादन करती हैं।

अब समाज और दर्पण को छोड़कर साहित्य पर आइये। इसकी जाति-पाति क्या है जो दर्पण से होड़ लगाये हैं? विचारों की अभिव्यक्ति मात्र को साहित्य कहते हैं। आप के मन में जो कुछ आये उसे कहकर खुलासा करने को साहित्य बताया जाता है। तब तो चमरू राम की चर्चा और घसीटन नाईन की वार्ता भी साहित्य में घिसट आएगी। इस विराट् रूप दर्शनाभिलाषी परिभाषा को जिसमें सब-कुछ समा जाय कौन विद्वान साहित्य मानेगा? अतएव इसे कसने की जरूरत पड़ेगी? तो उस अभिव्यक्ति को वर्णमाला के चिन्हों या अक्षरों में बाधा जाए, कसा जाए। तब काला अक्षर भैस बराबर वालों की बात-चीत साहित्य से निकल जाएगी। मगर पहली-दूसरी किताब पढ़कर चुटकुला लिखने वाले लोग भी साहित्यकार होने का दावा करेंगे। इस लिए इसमें कुछ विशेषता घुसेड़ दी जाए। 'विचारों' और 'अभिव्यक्ति' के पहले 'सर्वश्रेष्ठ' विशेषणी-सतरी डटा दिए जाएँ जो ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे को दरवाजे पर ही ललकार कर भगा दे। जब तक विचारों में बड़प्पन न हो, अभिव्यक्ति को आभूषण-अलंकार न पहिनाये जाएँ, चेहरा तमतमाता और परिधान चमचमाता न हो तब तक वे साहित्य के उच्चासन पर कैसे बैठाये जा सकते हैं। दर्शन और विज्ञान की भाँति साहित्य नग्न और निरालकृत नहीं रह सकता। अतएव विचारों की अभिव्यक्ति शब्दसकेतों में खूब बनठनकर, चन्दन टिकुली लगाकर, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर, अलंकारों, छन्दों और इंगितों से आच्छादित होकर निकले तो वह साहित्य कहलाएगी।

किन्तु कलावादी इस परिभाषा को कब मानने वाले हैं जब तक इसमें कुछ कलाबाजी न हो। वे एक टाग पर ही रसरी-नृत्य दिखाना

चाहते हैं। शक्ति के ये पुजारी सौन्दर्य और मनोरंजन में ही सारी शक्ति लगा देना चाहते हैं। सौन्दर्य दर्पण के सामने जागता है, नहीं तो मुँह मारे पड़ा रहता है। पद्मिनी के स्वरूप को दर्पण में ही देखने से अलाउद्दीन को सन्तोष होता है। अतएव दर्पण के महत्त्व को इनके अतिरिक्त और कौन समझ सकता है? अतएव हो न हो साहित्य को दर्पणी काया देने की साजिश इन्हीं कलावादियों की है। दूसरी छोर पर ज्ञानी साहित्य के उपासक हैं। इन ज्ञानी अन्तर्ध्यानी को बाहरी चाकचिन्त्य से क्या मतलब। इसलिए वह तो दर्पण को तर्पण करके ही दम लेंगे। सौन्दर्य-साधना और लोकहित आराधना का यह भगडा बहुत पुराना है। इसमें बाल की खाल निकालने से कुछ भी हाथ न लगेगा।

दर्पण तो 'है' ही। वर्तमान 'होना' क्रिया सहज, अमिट, अकाट्य सम्बन्ध की द्योतक है। ऐसा सम्बन्ध तो कार्य-कारण में ही सम्भव बनता है। वह यह है नहीं हम पहले बता चुके हैं। यदि जैन धर्म के स्याद् अस्ति न्याय का आश्रय लिया गया होता तो भी किसी कदर मान्य होता। 'दर्पण' नहीं वरन् 'हो सकता है' कहते तो खोटा सिक्का चल जाता। दुनिया में बहुत सी बातें हो सकती हैं, किन्तु होती नहीं। उसमें यह दर्पण भी पड़ा रहता। किन्तु 'है' कहके क्या जोर मारा है, कैसा अगदपद जमाया है। असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए ऐसा ही करना पड़ता है।

परिभाषा की इस घेराघेरी में, काट-छाट में, सीमित परिमित करने में कही हम साहित्य की आत्मा को ही न खो बैठें। सहित्य भाव साहित्यम्। सहित्य शब्द के भाव में ष्यज प्रत्यय द्वारा साहित्य शब्द उत्पन्न हुआ है जो सहभाव, समन्वय, सहचर्य, सहयोग का नारा बुलन्द करता है। वह सहभाव चाहे शब्द और अर्थ का हो, चाहे अभिव्यक्ति या विचार का हो, चाहे लोकाराधन और सौन्दर्य साधन का हो। यह अस्तित्व ही आज का युगधर्म है जिसमें अनेक दृष्टिकोण और प्रवृत्तियाँ सिमिटकर समा जाती हैं, जो जीवन की विविधता और

अनेकरूपता के दर्शन कराता है। साहित्य की इस उत्पत्ति में दर्पण का क्या स्थान ? वह तो एक उपकरण भी नहीं जान पड़ता। फिर निषेध-क्षेत्र में क्यों खोपड़ी घुसेड़कर चकनाचूर होना चाहता है।

दर्पण का कार्य तो वस्तुओं को जैसे-तैसे विकृत करके दर्शाने का रहता है। अतएव समाज की गन्दगी, अश्लीलता, कुकृत्य, लम्पटता का भी उसमें दिग्दर्शन होगा। किन्तु साहित्य तो यह कार्य नहीं कर सकता, चाहे कितना वह यथार्थवाद का ढोल क्यों न पीटे। वह तो कीचड़ और गदले पानी से निकले हुए पकज के समान होता है जो गन्दगी से भी जीवन तत्त्व खींचकर कितना सुचि सुन्दर और मनोत्कुलकारी बनता है। साहित्य में भी अनुभूति की ऐसी शोध की जाती है कि वह चित्ताकर्षक हो उठे। समाज में तो 'शुभ और अशुभ सलिल सब बहई' किन्तु 'सुरसरि परे सो पावन ऐसे, सब जन हितहि प्रवाहित जैसे।' मनुष्य अमरत्व की आकांक्षा लिये, स्वर्ग की ओर टकटकी लगाये, इस अनन्त भवसागर में विचरण करता है। दर्पण का यथार्थवाद तो उसकी महत्वाकांक्षा का अन्त कर देगा, नरक में ढकेल देगा, गर्त में गिराकर चरण तोड़ देगा। उसके लिए तो साहित्य ऐसा होना चाहिए जो उसकी दैवी प्रवृत्तियों का आह्वान कराये, उच्च विचारों से प्लावित करे और प्रशस्त मार्गों पर अग्रसर करे। यह तभी सम्भव होगा जब साहित्य और समाज दोनों का ही दर्प ऋण करके दर्पण को ही चकनाचूर कर दिया जाए। न रहेगा यह दर्पण, न होगा कोई आरोपण।

व्याकरण

लोगो ने व्याकरण को भी क्या बला बना दिया है। वह भाषा पर चढी बैठती है। सच तो यह है कि व्याकरण का जन्म भाषा के लिए हुआ है न कि भाषा का व्याकरण के लिए। किन्तु कुछ औधी खोपड़ी उलटा ही समझते हैं। वे अच्छी भाषा उसी को मानते हैं जो स्कूलों में पढाई जाने वाली व्याकरण पुस्तकों में दिए नियमों से बाँधी हो और बुरी भाषा उसे जो इन बन्धनों को तोड़ दे। यह बात सचाई से कोसों दूर है। भाषा व्याकरण से पहले जन्मी जिस प्रकार नाश्ते का भंडा आने के पहले मुर्गी का पैदा होना अनिवार्य है।

कटके नैव कण्टकम्। अतएव सधि-विग्रह से शुरू कीजिए। वि + आ + करण अर्थात् विशेष रूप से टुकड़े-टुकड़े करके स्पष्ट करना। तो पहले कोई चीज, कोई सामग्री, कोई इवारत होना चाहिए जिससे स्पष्ट किया जावे। जब भाषा ही नहीं तो फिर किसे विशिष्ट बनाया जावेगा। अन्तर्गुडगुडाते वहिन निःसरति' वाला मामला तो है नहीं कि गुडगुडा-हट को स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़े। यहाँ तो स्पष्ट भाषा में भाव व्यंजना होती है, अन्तर के उद्गार मुखरित होते हैं, सवेग सावेग बाहर निकलते हैं। सुस्पष्ट को क्या स्पष्ट बनाया जाएगा? और फिर का भाषा का सस्कृत भाव चाहिए साँच।

काम जो आवै कामरी का लै करै किमौच ॥

भाव तो सच्चे मेरे है। यदि मैं ही उन्हें स्पष्ट नहीं कर पाया तो दूसरे क्या जरूरत कर सकते हैं। दूसरे स्पष्ट भी कैसे करेंगे, टुकड़े-टुकड़े

करके । वही 'मर्डर टु डिसेक्ट' वाली बात होगी । भाव और भाषा दोनों के सौन्दर्य और सौष्ठव की हत्या होगी ।

अब व्युत्पत्ति पर आइए । अंग्रेजी की ग्रामर ग्रीक शब्द ग्रामा से बनी है जिसका अर्थ है 'अक्षर' । अतएव आदि में ग्रामर लिखित भाषा को ही कहते होंगे । उसके नियम और रूल्स के अर्थ में तो बहुत बाद में इसका प्रयोग हुआ । उर्दू की कवायद तो कायदा का जमा ही ठहरी । माना कि जिस्मानी कवायद नहीं दिमागी है । मगर दिमागी कवायद के लिए भी कोई माध्यम चाहिए, शून्य में होने से रही । न सूत न कपास जुलाहों में लठालठी करने से काम न चलेगा । अतः स्पष्ट है कि टुकड़े-टुकड़े करने पर भी यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषा पहले आई, व्याकरण, ग्रामर कवायद उसकी दासी के रूप में बाद में आई, परिचारिका का काम स्वामिनी को विभूषित करना है, उसका लचीलापन हरके उसे विकृत करना नहीं ।

उक्ति लीजिए । व्याकरण भाषा नहीं है जैसे दिल्ली का नक्शा दिल्ली नहीं हो सकता । व्याकरण का भाषा से वही सम्बन्ध है जो पुलिसमैन का कानून से । वह कानून का नौकर है, उसका मालिक नहीं, कानून बनाने वाला नहीं । भाषा स्वयम् अपना कानून है, व्याकरण केवल उसकी विशेषताओं, उसके परिवर्तनों का लेखा रखती है और वह भी जब परिवर्तन और विशिष्टताएँ प्रयोग की वारवारता के कारण कालान्तर में मान्यता प्राप्त कर लेती है । अतएव पाणिनी सत्रानो, आप व्याकरण को भाषा का अनुचर ही समझे, नितान्त लघुचर, उसे सिर पर चढ़ाएँ । मुनीमजी स्वयम् सेठ न बन बैठे । लेखापाल रकम ही हज़म न कर जाएँ । उस्ताद से दौवपेच सीख कर उन्हीं को दबोचने का प्रयत्न न करें ।

व्याकरण के आने के बहुत पहले से भाषा मैदान में डटी थी । पाणिनि के सूत्रनिर्माण के पूर्व से संस्कृत लिखी-बोली जाती थी । शेक्सपियर की मृत्यु के सहस्र वर्ष बाद पहली अंग्रेजी ग्रामर निकली ।

इन्शाअल्ला खाँ की दरियाए-लताफत के सैकड़ों वर्ष पहले लस्करी खेमों में उर्दू बोली और समझी जाती थी। अतएव इन प्रचलित भाषाओं के आधार पर ही व्याकरण बनी। आधार को ही जर्जरित करके उसमें पाँवबद लगाना तो उसी डाल को काटना है जिस पर आप बैठे हैं। 'एके साधे सब सधे सब साधे सब जाय' वाली लोकोक्ति याद रखिए। या तो एक भाषा को पकड़िए अथवा उसकी अनेकानेक शाखाओं को। इसी निर्णय पर निर्भर है आपका भाषा-ज्ञान अथवा अज्ञान।

मुना है कि शकर भगवान से वरदान पाकर भस्मासुर ने उन्हें ही भस्म करना चाहा था। भाषा से जन्म लेकर व्याकरण ने भी ऐसी ही कृतघ्नता दिखाई। सस्कृत को ऐसा बाँधा कि वह कथावाचको तक ही सीमित होकर रह गई। किन्तु आजकल फिर अगड़ाई ले रही है। देखिए किस करवट ऊँट बैठता है। लैटिन के ग्रामरी अजगर ने उसे अपनी कुण्डलियों में ऐसा जकड़ा कि उस बेचारी के प्राण पखेरू ही उड़ गए। अरबी को कवायद ने ऐसा कसा कि वह अपनी दुलकी भूल गई। परन्तु आधुनिक भाषाएँ इन दुर्घटनाओं से सतर्क हो गई हैं और इसीलिए यदाकदा दुलती भाड़कर बधन तोड़ देती हैं। यही तो उनके व्यापक और अमर बनने की निशानी है। इसी से वे सीम बनाने के प्रयत्न को असफल करती हुई असीम की ओर अग्रसर हैं।

व्याकरण क्यों पढ़ना चाहिए? कहते हैं इसलिए कि 'स्वजनः वजनो मा भूत्सकल, शकल, सकृत्', जिससे स्वजन (अपने आदमी) वजन (कुत्ते की औलाद) न बन जाएँ, सकल (सबकुछ) शकल (खण्ड-खण्ड) न हो जाए और सकृत् (एकबार) शकृत् (विष्ठा) न बन जाए। परन्तु कौन व्याकरणी नियम इन परिवर्तनों को होने से रोक सकता है। होनहार होइ के रहै मेटि सकै नहि कोय। व्याकरण तो स्वयम् कुछ शब्दों के चक्कर में पड़कर दूसरों को घनचक्कर बनाना जानते हैं। वे अपना गला रेत कर और जिह्वा को जर्जरित कर पंडित और मौलवी की उपाधि प्राप्त करने में प्रवीण हैं। शश्छो टीत्यादि शब्दः

सदसि शठाः शाब्दिकाः पंडिताः स्युः' । प्रायः हम नाचने गाने वालों की ताधिकधिन्ना से ऊब कर उन्हें हेय समझने लगते हैं । किन्तु हमारे वैयाकरणों की ओर जरा नजर डालिए 'ये पन्तीह-थोन्तत्ताथड्या थय्य थय्या धिग धिगधिक्थय्य थ्योति शब्दानि' । और मजा यह है कि इस थय्या थय्या वाली हरकत और कठिन कटु शब्दों की रटन्त में सारी जिन्दगी बिता देते हैं 'अखिलान्न यन्तिकतिचिच्छद्वन्तः कटून्' । इस अन्तिम पंक्तिमात्र का उल्लेख कर मैंने आपकी जान बचाई अन्यथा इस श्लोक की पूर्ववर्ती पंक्तियाँ सूत्रों और धातुओं से भरी पड़ी हैं जिनको समझना तो दूर रहा हम क्या हमारे फरिश्ते भी ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर सकते । 'लल लल का रया जिह्वा जर्जरस्फाररेफया' होने लगेगा । कहते हैं कि अगीकृत कोटिमित च शास्त्र, नगीकृत व्याकरण च ये न' । जिसने व्याकरण को नगा कर दिया उसने समस्त शास्त्रों को अगीकार कर लिया । जो दूसरों की इज्जत-आबरू पर हाथ लगाए ऐसे नगे से तो खुदा खुद डरता है, शास्त्र विचारे किस गिनती में आ सकते हैं ।

व्याकरण ने शब्द-शब्द को नगा किया । किन्तु जब बृहस्पति स्वयम् ने इन्द्र को एक सहस्र वर्षों तक शब्द पढ़ाने के पश्चात् भी शब्द समूह का अन्त होते न देखा तो व्याकरण कहाँ तक द्रोपदी के चीर को खींच सकती है । अतः मेरे व्याज को मूल से अधिक तूल पकड़ते देख कहना ही पड़ा कि निरकुशाः कवयः और पृषोदरादित्वात् साधु' । आर्ष-प्रयोग की आड़ लेनी पड़ी । भलेमानुस पोथन्ना लिखने के पहले ही इसे स्वीकार कर लेते तो तुम्हारा परिश्रम बचता और दूसरों की जान । 'जुही ही कली' शीर्षक अपनी प्रारम्भिक कविता 'सरस्वती' को प्रेषित कर निराला जी महीनो पत्रिका के पन्ने पलटते रहे किन्तु उनकी कली न खिली । हताश एक दिन सम्पादकजी से साक्षात् किया । वे बोले 'तुम्हारे कविता तो बड़ी नीक हैं मुझे तुम्हारी तरह निराली हूँ' । 'रबर छन्द आय दादा या मुक्त

होत है' 'तो फिर छन्दशास्त्र की मुक्ति करैया हौ। अस कवित। सरस्वती मा न छापव'। वैयाकरण क्या समझे कि आबे हयात के शोर पर कवि का स्वर भकारित होता है वह व्याकरण के फालतू बधनों में नहीं पड़ सकता। ऐसी ही घटना बर्नाड शा के साथ घटी। उनकी इवारत के एक 'स्पिलिट इनफिनिटिव' को सुधार कर मुद्रक ने प्रूफ भेजा। शा ने उसे जैसा का तैसा कर दिया। मुद्रक ने फिर वही जुरअत की। शा बिगड़ पड़े 'मेरी किताब छापता है कि मुझे अंग्रेजी सिखायेगा।' मुद्रक ने विनम्र होकर जैसे ही ग्रामर का नाम लिया कि शा बरस पड़े 'ग्रामर दूसरो की अंग्रेजी ठीक करती होगी, मैं ग्रामर को ठीक करता हूँ।' ठीक ही है व्याकरण के मुहावरे, उपयोग, नियमादि बड़े-बड़े लेखकों की भाषा पर निर्भर करते हैं। वे जो लिख मारे वही ठीक है। उन्हें दीपक कौन दिखा सकता है जब वे स्वयं दीपक को ज्योति देते हैं।

सारे व्याकरण वारे कहा जाने भेद याको।

वारि जो नृपुसक है तो वारिज भयो कहाँ ते ॥

अच्छे लेखकों को प्रायः व्याकरण नहीं आती, जो कुछ स्कूल में उनके दिमाग में ठूसी जाती है उसे वे बिसरा देते हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, एच० जी० वेल्स और इकबाल सरीखे इने-गिने लेखक ही ऐसे निकलेगे जो समास विग्रह, पार्जिग और गिरदानना जानते हों। व्याकरण को भुला देने से कोई हानि भी नहीं होती। जब मनुष्य की तर्कानुसार भाव व्यक्त करने की आदत पड़ जाती है तब व्याकरण वैसे ही भुला दी जाती है जैसे मकान बन जाने पर उसका ढाँचा और खिलौना बन जाने पर उसका साँचा। भाषा कभी एक सुनिश्चित विज्ञान नहीं हो सकती, सदा मानव-आदतों का एक समूहमात्र रहेगी। उसके लिए दिमागी कवायद की जगह कर्ण प्रशिक्षण अधिक महत्त्व का बढाया गया है। लोग शुद्ध हिन्दी के नियम बनाते हैं तो उनसे पूछना है कि क्या अशुद्ध हिन्दी भी होती है। भाषा तो एक सतत्

प्रवाहिनी गगा है जिसमे अनेक नदी नालों का जल आकर गिरता है और 'सुरसरि परे सो पावन जैसे, ईस अनीशहि अतर तैसे'। यही तो उसके राष्ट्रप्रियता की माप है इसी से तो देश प्रदेश के लोग उसे अपनाएँगे।

टामस हुड ने तो ग्रमेरियन्स फ्यूनरल ही निकाल दी थी किन्तु उसे खोदकर गहरे गाँव देना भूल गए। इसी कारण से उसका भूत कभी-कभी कुछ लोगो पर सवार होकर गुनिया की तरह बोलता है। किन्तु आजकल कुछ लोग हुड से होड लगाने में चतुर हैं। वे आँखो का काजल चुराना जानते हैं। उन्होंने औपचारिक और व्यावहारिक व्याकरण का अलाप शुरू कर दिया है। पहले को केवल उपचार के लिए यदाकदा स्मरण किया जाता है और दूसरी केवल तसल्ली के लिए व्याकरण कहलाती है अन्यथा उसे भाषा की आदतें ही समझिए। और यह आदतें भी कैसे पड़ती है? दिग्गज लेखक जो कुछ भी अपनी लोह लेखनी से लिख मारते हैं वही अच्छी भाषा कहलाती है चाहे वह व्याकरण के नियमों की कितनी भी हजामत क्यों न करे। अतएव वैयाकरणों सम्भल जाओ। तेल देखो, तेल की धार देखो। भाषा की बढ़ती हुई जवानी में छेड़छाड़ मत करो। 'एक मात्रालाघवेन पुत्रोत्सव-म्मन्यते' के अनुसार तुम्हें तो एक मात्रा के कम होने से पुत्र जन्म का आनन्द होता है तो फिर अनेक मात्राओं के उड़ाने से तो परमानन्द प्राप्त होगा। अतएव जगद्गुरु शंकराचार्य की बात मानो 'प्राप्ते सन्निहते मरणे नहि नहि रक्षत दुःक्रिय करणे।' भजगोविन्दम् भजगोविन्दम् गोविन्दम् भज रे मूढमते।'।

कवि-सम्मेलन

अभी उस दिन मैं नैपथ्य से कवि-सम्मेलन सुन रहा था। दिन तो न था, रात थी और वह भी आधी। छ. बजे शाम से लेकर दस बजे तक रात के सन्नाटे में चार घण्टे का सफर लम्बा होता है। उसे आप कुर्सी, चारपाई, बस या रेल किसी पर भी तय कीजिए, बिना झपकी लगे सफर पूरा न होगा। अपनी भी यही फजीहत हुई। घड़ी ने जब दस आवाजे लगाई तो मैं सकपकाकर उठा और यन्त्र के कान उमेठने लगा। कान उमेठते-उमेठते एक कवि हवा में उड़ गए। मैं केवल उनकी दुम छू पाया लेकिन वह भी हाथ से फिसल गई। फिर किसी कोकिल कण्ठ से आवाज आई कि अब अमुकराम शर्मा अपनी कविता सुनाएंगे। कवि ने ग्राते ही बताया उनका नाम तमुकराम वर्मा है। अमुक-तमुक और शर्मा-वर्मा की इस अदल-बदल से लोगो का बड़ा मनोरंजन हुआ। लगभग सौ-दोसौ आदमी हँसते जान पड़े, इतनी छोटी-सी भूल पर। गलती करना तो आदमियत की निशानी है, फिर इतनी हँसी क्यों? बात यह है कि दिनभर का हारा-माँदा व्यक्ति सन्ध्या समय भोजन करके कुछ तफरीह की तलाश में निकलता है। देश-विदेश के समाचार देखना, मनोहर कहानियाँ पढ़ना, गप्प-सटाक लगाना अथवा नानी की कहानी सुनना, इन्हीं में मन बहलाता है। यह सब इसलिए करता है कि जिससे “आजा रो निदिया आ जारे” हो सके। आपकी फरमायश पूरी करनेवाले आकाशवाणी केन्द्र यह तथ्य जानते हैं और आपके मनोरजनार्थ आयोजन करते हैं। कविता का भी उद्देश्य आनन्द देना है। इसी महान् उद्देश्य की ओर कवि-सम्मेलन एक लहान प्रयास समझिए।

तो फिर यह आनन्द थोड़े ही लोगों को क्यों बाँटा जाता है। जो जागे सो पावे, जो सोवे सो खोवे। अधिकांश लोग जब दिनचर्या से थककर खुराटि भरने लगते हैं तब आकाश में यह रस-वर्षा होती है। स्कूली लड़के निद्रा की गोद में होते हैं तब हमारे कविगण अलाप देते हैं। नाच और गाना तो निशाचरी माया ठहरी, वह अर्द्ध रात्रि को हो तो कोई बात नहीं। कवि सम्मेलनों को उन कार्यक्रमों के साथ क्यों नत्थी कर दिया जाता है? क्या वह इतना महत्त्वहीन होता है कि दुनिया भर की खुराफात होने के बाद बचे हुए समय में ही उसे रखा जावे। कहने का मतलब यह है कि उसके लिए और कोई उपयुक्त समय रखा जावे, जब अधिक-से-अधिक लोग कविता का रसास्वादन कर सकें। उपयुक्त समय निश्चित करने का उत्तरदायित्व उनके ऊपर है जो जनता की रुचि के प्रोग्राम बनाते हैं।

कविता के पहले कवियों के चयन को देखिए। वही चिरपरिचित बहुभावित कविगण हरबार अपनी कविता सुना जाते हैं। मानो काव्य-वसुन्धरा इतनी ऊसर हो कि वहाँ दो-चार किशुक और करील को छोड़कर और कहीं हरियाली न हो। कविता दिल की चीज ठहरी, दिमाग की नहीं, भाव प्रधान होती है बुद्धि निधान नहीं। फिर कवियों के चयन करने में विश्वविद्यालयीन डिग्रियाँ देखने की आवश्यकता नहीं। कम पढ़ा व्यक्ति भी अच्छी कविता कर सकता है। हो सकता है कि किसी कोने में पड़े अज्ञात 'इंग्लोरियस मिल्टन' के भावों की शालीनता बड़े-बड़े कवि न पा सकें। तब कवियों के चुनने में एक-दो मौका सभी को देना चाहिए, जिससे मालूम हो जाय कौन कितनी गहराई में है। उन्हीं कागजी, भुमुण्ड जी, पिक जी, और रिक्षपति को बार-बार बुला लेना और कवि-सम्मेलन करा देना केवल लकीर पीटना होगा। नए कवियों को ढूँढ निकालना और उन्हें प्रोत्साहन देना ताकि उनकी प्रतिभा को खिलकर छिटकने का अवसर मिले यह भी

मदेनजर रखना चाहिए। किसी ने सच कहा है 'गुणी न हिरानो, गुण-ग्राहक हिरानो है'।

मुश्किल तो यह है कि कोई कविता के भावों और अलंकारों की इतनी परवाह नहीं करता जितनी कि कवि-कण्ठ की। यदि आपका कण्ठ सुरीला-रसीला शुक्र-पिक्क सदृश है तो आपको बराबर कवि-सम्मेलन में न्योना मिलता रहेगा। कवि-सम्मेलन कराने वाले कविता का केन्द्र कण्ठ मानते हैं जैसे यह कवि-सम्मेलन न हुआ कोई मुजरा हुआ, जहाँ गले का महत्त्व हो। निराला जी की निराली उक्तियों में एक कवि-सम्मेलन के बारे में भी है। उन्होंने कहा था कि दुर्भाग्य है कि कवि-सम्मेलनों में लोग अच्छी-बुरी कविता की परख अच्छे-बुरे गले से करते हैं। अच्छा हो कि कवियों की गलेबाजी पर ध्यान न दिया जावे बल्कि किसी तीसरे व्यक्ति से बिना गाए कविता पढा ली जावे। उनकी बात ठीक जान पड़ती है क्योंकि कविता में हृदय की परख होनी चाहिए गले की नहीं। जहाँ कोई सज्जन फटे बाँस के स्वर में बोले कि श्रोतागण हँसने लगते हैं, कविता उनकी चाहे कितनी ही करुण रस की क्यों न हो। बद से बदतर कविता सुरीली तान में सस्वर पढ़ी गई तो अपना प्रभाव जमा लेती है। मूल्यों की कैसी विडम्बना है। लोगों के मूल्यांकन के मापदण्ड कितने बण्ड हो गए हैं।

कविता के विषयों के बारे में तो न पूछिए सोई अच्छा। लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है 'जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय कवि।' नाना प्रकार की सूझें थी और सभी अपनी-अपनी सूझ के कायल जान पड़े। एक पक्ति थी 'सजनि तुम मेरे आँगन में नाचो।' कोई तरुण कवि जान पड़े क्योंकि 'तरुणस्तावत् तरुणीरक्ता।' दूसरी थी 'फिर बगरो बसन्त इस जीवन में।' इसे सुनकर श्रोताओं में बड़ी हँसी हुई। बसन्त आवाहन में कोई हँसने की बात तो न थी किन्तु शायद कोई वृद्ध कवि प्रलाप कर रहे थे ~~कवि~~ की स्मृति में। इसलिए लोग हँस पड़े। श्रुतिपुट में टपका के षटरस की बूंदों के बाद 'इठलाती मन बहलाती आई सन्ध्या' कविता

कुछ जमती जात पड़ी। कण्ठ अच्छा था, भावचित्र उत्तम, भाषा रस-पागी, श्रोता भी सन्नाटे में। शायद कविता ने समझ बाँध दिया था अथवा सब निद्रा में थे क्योंकि रात्रि सघन हो चली थी, सन्ध्या को बहुत पीछे छोड़कर। सम्भवत आखिरी बात ठीक हो क्योंकि अगले कवि ने डाँटते हुए सबको सचेत किया कि मैं अपनी कविता पर आपकी दाद चाहूँगा। उनकी याचना के उत्तर में मेरे मुँह से निकल गया—

सुनू तेरी रेहकन औ दादे नजम दूँ।

बड़ा आया दादे नजम लेने वाला।

मेरा शेर तो कवि तक न पहुँचा होगा। रेडियो के सामने बैठने पर सभी ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे सुनाते हैं, आपकी कौन सुनता है। किन्तु यदि शब्द अनश्वर है तो इस अनन्त विश्व में अनन्त काल तक विचरण करता हुआ कभी-न-कभी कहीं-न-कहीं कवि के श्रोतकुहर में अवश्य प्रविष्ट हो जाएगा। तब क्या गुल खिलेगा कौन बता सकता है? मैं इसी विचार में खोया हुआ था कि कोकिल कण्ठ ने कहा यह अन्तिम कविता है। 'अन्तिम' सुनकर मैं चौकन्ना हुआ। किस कवि की अन्तिम कविता है? इसके बाद उसका क्या होना है? क्या यह उसकी टैनीसन सरीखी 'क्रासिंग द बार' अथवा प्रेमचन्द के अन्तिम 'गोदान' सी कृति है। हृदय में करुणा रस का संचार हुआ और कविता हास्य-वीभत्स के बोर्डरलाइन पर चली। कैसे खट्‌टे-मीठे रसों का मिश्रण हुआ। वह कवि-सम्मेलन की अन्तिम कविता थी क्योंकि उसी के बाद समाप्त होने का कोलाहल सुनाई पड़ा। मानो कुफर टूटा खुदा-खुदा करके। लोग भागते हुए जान पड़े। जान बची लाखों पाए, खैर से बुद्धू घर को आए।

कवि-सम्मेलन तो समाप्त हुआ किन्तु नींद हराम हो गई। मैं पड़ा-पड़ा सोच रहा था। कुछ कविताएँ तो अतुकान्त थीं ही किन्तु पूरा कवि-सम्मेलन बेतुकान्त था। उनमें न कोई रस प्राधान्य, न विषय एक्य, न समस्या-पूर्ति, न कोई लक्ष्य प्राप्ति। कैसा बेनकेल चल रहा था। साहित्य में जिस प्रकार की कविताओं की कमी है उसी अभाव को पूरा

करने का प्रयास होता । शृंगार से तो साहित्य भरा पड़ा है, बड़े-बड़े दिग्गजों ने मुँह पर मसि लगाई है । अन्य रसों की ओर ध्यान हो । वीर रस भूषण के बाद समाप्त होता जान पड़ता है । उसी का भण्डार भर धमनियों में खून की रफ्तार तेज की जावे । अच्छी हास्य रस की कविताओं की नितान्त कमी है । वही पूरी की जावे । नहीं तो ये कवि-सम्मेलन व्यर्थ में कवि-निमन्त्रण, रात्रि-जागरण, पिष्टपेषण तथा पानचर्वण के अतिरिक्त और कुछ न रहेगे । दिल्ली रेडियो से अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन एक नई चीज थी । अन्य भाषाओं की कविताओं का हिन्दी रूपान्तर उम्दा था । विभिन्न भारतीय साहित्यों को मेल-मिलाप का अवसर मिला । इसी प्रकार कुछ अक्ल खर्च करके, कुछ नया प्रोग्राम बनाकर, कुछ साहित्योपकार की भावना लेकर आयोजन किया जावे, तो अच्छा हो । यदि परिपाटी पीटने का, कठमुल्लापन बताने का, कनछेदन, नक-छेदन वाले कवि-सम्मेलन कराने का रवैया न बदला गया गया तो पैसे की बरबादी, समय का हनन और कवियों का हिनहिनाना ही रह जाएगा और कुछ सार्थक कार्यक्रम न हो सकेगा ।

हास्य के बारे में कुछ हास्यप्रद लिखना जरा टेढ़ी खीर है। पाई तुम्ही में वस्तु जो कैसे उसे वर्णन करूँ ? फिर वह जब सर्वव्यापी हो तो उसे सीमित परिमित करना और भी कठिन है। कहा जाता है कि ब्रह्मा ने जब सृष्टि बनाकर विष्णु को दिखाई तो वे प्रसन्न हो खिलखिला पड़े जो चन्द्रिका बन बिखर गई। सृष्टि के आदि से जिस चीज़ की जानकारी हो उसके बारे में क्या नई बात कही जाए। आदि मानव के पैरों के नीचे जब पृथ्वी कंपकपाई होगी और सिर पर भयकर मेघनाद हुआ होगा तो मृत्यु को निकट देखकर उसने अट्टहास किया होगा। प्राण रक्षा के लिए इन शक्तियों की उपासना की होगी, देवी-देवताओं की स्थापना की होगी। किन्तु उनकी गम्भीर मुद्रा देखकर वह हँसा होगा। बस यहाँ से, हँसने की शुरुआत मानव ने की होगी। फिर जैसे-जैसे बर्बरता घटती गई हँसना जोर पकड़ता गया होगा। भावना और विचार के परिष्कार के साथ हास्योन्नति का गठबधन रहा है। इसीसे तो हास्य लेखक और हास्य-साहित्य कछुए की चाल से आगे बढ़ पाए हैं। जान पड़ता है हास्य का ताना-बाना अल्लाह मियाँ के घर से ही बुनकर आता है। नन्हे-मुन्ने मुस्कराते हैं, बालक हँसते हैं, युवक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं, वृद्ध धीमी मुस्कान में ही सन्तोष कर लेते हैं। पालने से मृत्युशय्या तक हास्य अनेक रूपों में दिखाई देता है। एक साहब तो गधे को सेव खाते देख इतना हँसे कि प्राण ही छोड़ बैठे। इसलिए हँसना एक सहज गम्भीर विषय है कोई

हँसी-ठट्टा नहीं। ऐसे विषय की चर्चा करने में भाषा भी नहीं मुस्कराती फिर लेख हास्यात्मक कैसे बने ?

हमारी-आपकी तरह हास्य की भी एक आत्मा होती है। हास्य की आत्मा स्वच्छन्द है, मुक्त है, सर्वव्यापिनी है। उसको भाषा की परिधि में लाना कठिन है। पारिभाषिक शब्दों की जटिल बेडियों में उसे जकड़ने का प्रयास हवा में गाँठ बाँधना, कौधनको पकड़ना ही कहलाएगा। कुछ धुरधुरो ने यह प्रयास भी कर डाला। किन्तु उनका नुकते नजर इतना सीमित और सकुचित रह गया कि वे हास्य की अनेकरूपता को वाग्जाल में नहीं फँसा पाए। सर्वव्यापी बहुमुखी हास्य उनको अपनी अठखेलियों में भुलाकर अलग खड़ा-खड़ा मानवी असफलताओं पर मुस्कराता रहा है। और वे मानव भी कैसे थे ? ऐसे जो अपना सरपच्ची करते हैं, व्यर्थ की बकवास करते हैं, महज इसलिए कि लोग उन्हें दार्शनिक कहे, फिलास्फर पुकारे। जीवनभर वे प्रस्तर की मूर्ति की भाँति गाम्भीर्य की प्रतिमा बने रहे, हास्य को छूत की बीमारी समझते रहे, उससे सशक्त रहे जितना छोटे बच्चे हऊआ से रहते हैं, और कलम कुल्हाड़ा चला बैठे उसपर जिसे उनकी छटी में मूसल के नीचे दबा दिया गया था, जिसका हकीम लुकमान के कहने से आजीवन परहेज करते रहे, जिसकी अनुभूति की भभूत का माथे पर एक भी टीका नहीं लगा। हास्य का दुर्भाग्य यही रहा है कि किसी हँसोड ने, किसी बम्बूक ने, आज तक अपनी अनुभूति के आधार पर उसका गुणगान नहीं किया। 'जो जानत सो कहत नहि, कहत सो जानत नाहि।' जो स्वयम् नहीं हँसता, न दूसरो को हँसाता है वह किस वित्ते पर हास्य पर लिखने का साहस करता है ? इस ससार सागर में अनेक ऐसे रत्न पड़े हैं जो वैज्ञानिक किरण डालने से, विश्लेषण ताप चढ़ाने से काफूर की तरह उड़ जाते हैं। फिर जब रहेगा न बाँस तो क्या बजगा बाँसुरी ? हास्य भी मानव जीवन का एक ऐसा ही अमूल्य रत्न है।

हास्य एक सहज मानवी गुण है। एक खिस्सूमल ने मनुष्य को हँसने वाला प्राणी ठहराया है। प्राणी तो इस ससार में अनेक है किन्तु खीसे निपोरने वाला एक यह द्विपदगामी ही है। आबाल-वृद्ध-वनिता आजीवन इस गुण को प्रदर्शित करते हैं। जो नहीं करते उन्हें लोग आँखें फाड़कर देखते हैं, उनकी जन्मतिथि के बारे में अनेकानेक शंकाएँ करते हैं, उनके मनहूस नक्षत्रों को कोसते हैं, उन्हें व्यंग का शिकार बनाते हैं। जिन लोगों ने इस नैसर्गिक गुण को कुण्ठित करने की चेष्टा की, बुजुर्गी लादने के लिए इस पर पर्दा डाला, बड़प्पन दिखाने के लिए गाम्भीर्य का चोगा पहिना, उनका खूब मजाक उड़ाया गया, उन्हें रगमच पर आड़े हाथों लिया गया, वे विदूषकों के अभिनय की सफलता का कारण बने। समाज ने उन्हें रगा-सियार कहा, मित्र मडली ने मुर्दादिल समझा और घर में पाषाण मूर्ति-से प्रतिष्ठित रहे। पालने में वे वृद्धरूप ही आए, जीवन पर्यन्त बुढ़ापा ओढ़े रहे और अन्त में दाँती बाधे चले गए। उनके गाम्भीर्य जन्म भय ने उनको हमसे कोसों दूर रखा, हमारे उनके बीच में चीन की दीवार खड़ी की और उन्हें कभी धूल-मिलकर हमारा अन्तरंग न बनने दिया। अन्तरंग बनता है वह जो हँसता है, दिल खोलकर हँसता है, हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता है। उसका उत्फुल्ल बदन सर्वत्र चारु चद्रिका बिखेर देता है जिसकी शीतलता में दग्धहृदय भी खिल उठता है। उस चेहरे पर मानवता के गुण खुलकर खेलते दिखाई देते हैं। लोग उस पर सज्जनता का आरोप करते हैं। और जहाँ सज्जनता होती है वहाँ भय नहीं। भावना के अतिक्रमण के कारण हास्य का ह्रास हो जाता है। हास्य की दृष्टि सदा मानसिक रहती है भावनात्मक नहीं। सहानुभूति को तो वह फूटी आँखों भी नहीं सुहाता।

हास्य की दुनिया बड़ी विस्तृत है। कब कहाँ, कैसे वह खिल उठेगा, ठहाका मारकर गूँज उठेगा, कुछ नहीं कहा जा सकता—वह विद्युत् तड़ित की भाँति एक क्षण में प्रकाश पाता है, गति पकड़ता है,

चरम तक पहुँचता है और विलीन हो जाता है। वह असगति की मानसिक अनुभूति पर जन्म लेता है। विकृताकार बाग्वेष चेष्टादेः कुहकाद्भवेत्। यह असगति चाहे आकार की हो, चाहे भाषा-वाणी की हो, चाहे वेशभूषा की हो, चाहे चेष्टा-व्यवहार की हो। किसी मुटियल को छोटे टट्टू पर लदे देख, किसी फटियल को अमीरी व्यवहार करते देख, किसी सटियल को विद्वानों के बीच साधिकार बोलते देख, किसी ख्याति प्राप्त व्यक्ति को भुखमरो की भाँति खाते देख, किसी कुरूप व्यक्ति को बन-ठनकर जाते देख हमें असगति का आभास हो सकता है। यह असगति बातचीत और साहित्य में भी दिखाई पड़ सकती है। विचारों और प्रतिभाओं के विरोधाभास में, गम्भीर या उच्च भावनाओं को गिराने तथा निम्न और अश्लील भावनाओं को उठाने में, किसी बात को बहुत बड़ा-चढ़ाकर कहने में, रक्ष, कर्कश, विषम शब्दों के प्रयोग में असगति का संकेत हो सकता है। इन सभी अवसरों पर हास्य उत्पन्न होना स्वाभाविक होगा। किन्तु उसका बीजारोपण मानवी सम्बन्धों तक ही सीमित है। कभी-कभी हम बन्दर की मुद्रा, सुग्गे की भाव-भंगी और कुत्ते की उछल-कूद आदि पर भी हँस पड़ते हैं। इस हँसने का कारण हमारे और उनके कार्यों में एक साकेतिक साम्य, एक धुंधले प्रतिबिम्ब का प्रस्तुत होना है।

विद्वानों ने जो हास्य का उद्गम बताया है उसमें तो मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना है। मनोविश्लेषणवादी कहते हैं कि प्रेम-व्यवहार में अवरोध की भावना हास्य उत्पन्न करती है। उनका क्या कहना। उनके हिसाब से ससार की प्रत्येक क्रिया सेक्स भावना पर केन्द्रित है। मनोवैज्ञानिक जड़वत कार्यों की पुनरावृत्ति में हास्य का स्रोत ढूँढते हैं। हास्य जब स्वयं सजीवता-सरसता का संचार करता है तो उसका स्रोत जड़वत कैसे होगा? समाजशास्त्री वैषम्य की भावना अथवा सहज-क्रीडा-प्रवृत्ति को हास्य के लिए जिम्मेदार समझते हैं। वे शास्त्री ही ठहरे जो कहे थोड़ा है। ये सब सिद्धान्त एकांगी हैं और अपने ढोल को पीटने में

लगे हैं। इनकी पगडण्डियों में पड़कर हम हास्य की व्यापकता, अनेक-रूपता और अन्तरात्मा को नहीं समझ सकते। वह तो पकड़ के परे है यद्यपि यत्र-तत्र-सर्वत्र खिलखिलाता हुआ दिखाई देता है।

हास्य में एक हाथ से ताली नहीं बजती। उसके लिए एक साथी की आवश्यकता पड़ती है। कोई किसी को सुने-देखे तब हंसी हो। हास्य की सृष्टि का उत्तरदायित्व वक्ता पर कम और श्रोता पर अधिक होता है। कहने वाला महान् हास्यजनक बात कह सकता है परन्तु जब तक सुनने वाले को उसे समझने की क्षमता नहीं तब तक हास्य उत्पन्न न होगा। जिस तरह दर्पण के सामने सौन्दर्य जागता है उसी तरह श्रोता के सहारे हास्य खिलता है। यदि दर्पण ही धुंधला हुआ, घटिया हुआ तो सौन्दर्य मुंह छिपाए पड़ा रहेगा, यदि श्रोता ही गड़बड़ हुआ, गाफिल हुआ तो हास्य मुदी कली की तरह बन्द पड़ा रह जाएगा। इसीलिए कहा गया है कि हँसने वाले के कान बड़े-बड़े होने चाहिए, जिसके कान नहीं वह हँसेगा क्या? हास्य एक सक्रामक रोग है जो कानों और आँखों द्वारा फैलता है। किसी को मुनकर, किसी को अट्टहास करते देखकर दूसरा भी साथ देता है। सक्रमण किस परिमाण में होगा यह दूसरे की ग्राहिकता पर निर्भर करता है। हो सकता है वह भी अट्टहास करे, हँसे, मुस्कराए, दाँत निपोरे अथवा केवल ओठों में भूकम्प लाकर ही रह जाए। हास्य ही एक ऐसी भावना है, जिसे हम खुले खजाने प्रकट करते हैं अन्यथा रोने-गाने में तो लज्जा-संकोच आता है। हम दिल खोलकर हँसते हैं, कलेजा फाड़कर ठहाका मारते हैं। हँसने वालों में एक समानानुभव, एक भ्रातृभावना, होना चाहिए फिर जितनी अधिक बिरादरी हुई उतने ही गहरे कहकहे लगते हैं।

श्रोता की शर्त के कारण हास्य का भौगोलिक नियन्त्रण हो जाता है। प्रत्येक देश का हास्य भिन्न और अपना होता है। जिस ~~स्थान~~ या परिस्थिति पर भारतीय हँसेगे उस पर अंग्रेज नहीं, जिस पर फ्रांसीसी मुस्कराएँगे उस पर रूसी नहीं, जिस पर अमेरिकन खिलखिलाएँगे उस

पर चीनी नहीं। हास्य और समाज विशेष का चोली दामन का सम्बन्ध है। इसी कारण दूसरे देशों का हास्य समझना कठिन होता है और उसका दूसरी भाषा में अनुवाद करना और भी दुर्गम, कभी-कभी तो एक ही देश के एक कोने में जिस बात पर लोगो को अट्टहास करते देखा गया है, उसी बात पर दूसरे कोने के लोग मुस्के बाँधे पाये गए हैं। एक ही नगर में एक मित्रमण्डली जिन शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग से हँस पड़ती है उनका दूसरे मित्र गुट्ट पर किंचित प्रभाव नहीं पड़ता। जान पड़ता है जितने जनसमुदाय हैं उतने ही प्रकार के हास्य होते हैं। तब फिर असंख्य समुदायों के हास्य का लेखा-जोखा कौन करे? उन्हें एक ही सिद्धान्त में कौन बाँधे?

हँसोड़ों की न पूछिये, तरह-तरह के होते हैं। एक वे जो मुस्कराकर ही सारा मजा लूटते हैं, दूसरे वे जो दबी हँसी में ही सारी शान जमाते हैं, तीसरे खुलकर हँसते हैं, चौथे ठट्टा मारकर हँसते हैं और पाँचवे घोर अट्टहास से कमरा गुजा देते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो बैलों के गले में पड़ी घण्टी की तरह सदा टिनटिनाया करते हैं तो कुछ ऐसे जो रुक-रुक कर घोंडे की तरह हिनहिनाया करते हैं। कुछ हँस-मुँसना कहलाते हैं जो हँस-हँसकर बात टाल देते हैं तो कुछ हँसतामुखी जिनका पुरुष वर्ग में मिलना कठिन होता है। कुछ हँसने के नाम पर मुच्छ के दो-चार बाल फड़का देते हैं और अगर वह भी न हुई तो ओष्ठ प्रदेश में हलका-सा जलजला ला देते हैं। कुछ रोग शय्या छोड़े हुए व्यक्ति की भाँति गुमसुम हँसते रहते हैं। जो हँसते नहीं वे जीवन का आनन्द क्या पाते होंगे? हँसी कठिनाइयों के रेगिस्तान में आनन्ददायिनी हरित् भूमि-सी है, जिसे पाकर दिल खिल उठता है। दबी भावनाएँ हिसक जीवों की तरह अपनी-अपनी खोहों और मादों से निकल भागती हैं। मन स्वच्छ निर्मल हो जाता है। जिसे जिन्दगी में हँसना न आया उसे जीना न आया। जो एक बार भी दिल खोलकर हँस लिया उसका जीवन सार्थक हो गया। हँसी की स्वच्छन्दता से मनुष्य की सज्जनता

आँकी जाती है, उसकी बारम्बारता से मानसिक तनाव नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं, उसकी निरन्तरता से स्वास्थ्य लाभ होता है।

उत्तम हास्य में किसी के प्रति दुर्भावना अथवा द्वेष नहीं रहता, ना ही वह किसी को चोट पहुँचाता है। उसमें दुःख अथवा मृत्यु की छाया नहीं रहती। वह आत्मीयता की व्यापक भावना से प्रेरित होता है। उसका दृष्टिकोण कुछ सशोधन अथवा सुधार करना रहता है। किन्तु इसका केवल दूर से सकेत-मात्र होता है, आभास-सा मिलता है। वह जिसके प्रति किया जाता है उसे भी हँसाता है और तटस्थ बनकर अपने स्वयं को देखने का मौका देता है। अपने इन आदर्शों से हास्य जब गिरता है तो व्यंग की श्रेणी में उतर आता है। हास्य-साहित्य को वही स्थान प्राप्त है जो काव्य, नाटक या संगीत को। किन्तु समाज की कुछ ऐसी विडम्बना है कि वह इन्हें हेय समझता है। वह हास्यप्रिय व्यक्ति, कवि, नाटककार और गायक का मूल्य बहुत कम मानता है। हास्यप्रिय व्यक्ति को तो हम आलसी समझते हैं, वक्त खराब करने वाला मानते हैं और विदूषक की सजा देते हैं। नासमझ ससार ने सदा ऐसे व्यक्ति की उपेक्षा की है जो उसका मनोरंजन करता रहा है। और नीरस निर्जीव ज्ञान की गठरी सिर पर लादे डरावनी सूरत वाले का आदर किया है। यह विद्वान् और विदूषक का झगडा बहुत पुराना है। समाज के मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह परम आवश्यक है कि वह हास्य की महिमा समझे और विदूषक का मूल्य पहिचाने।

हास्य-लेखक और दार्शनिक का एक ही आदर्श है, व्येय है, लक्ष्य है। दोनों ही जीवन में साम्य की प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहते हैं। अपने उद्देश्य की पूर्त्यर्थ एक यथार्थ उद्घाटन का माध्यम अपनाता है तो दूसरा चिन्तन का; एक का साधन वैषम्य है तो दूसरे का तर्क। किन्तु दोनों मार्गों से वे एक ही स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ सत्य का प्रकाशन होता है। ससार में ऐसे लोग बहुत कम हैं जो सत्य के प्रेमा हों, उसकी चोट को बरदाश्त कर सकें। इसीलिए वे हास्य-लेखक को

विदूषक कहकर और दार्शनिक को सनकी बताकर दूर-दूर रखते हैं और अपने को पुनः मुगालते में रखकर, गापल्य में डालकर, सान्त्वना देते रहते हैं। जो यथार्थ के उद्घाटन से, सत्य के प्रकाश से घबराते हैं, चकाचौध होते हैं वे हास्य का मूल्य क्या समझेंगे ?

इनीशियल्स

उस दिन 'कुछ स्कूली लड़के आपस में बात करते हुए मिस्टर पी० आर० चौहान को परीक्षा के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण बता रहे थे। मेरा ध्यान लड़को की बातों पर नहीं था। मैं कुछ यों ही निठल्ला-सा बैठा था। किन्तु आप एक बार दिमाग की खिडकियाँ खोल दीजिए कि उसमें चारों ओर से हवा के झोंके आने लगते हैं। मिस्टर पी० आर० चौहान भी किसी किनारे से मेरे दिमाग शरीफ में घुस आए। मैं सोचने लगा कि मिस्टर परसराम चौहान कोई मास्टर होंगे जिनकी चर्चा लड़के कर रहे हैं। किन्तु उनका परीक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण होना कुछ समझ में न आया। यथानाम तथागुण, शायद परसराम जी परीक्षा के अको पर खूब फरसा चलाते हों, इसीलिए महत्त्वपूर्ण बन गए हों। अथवा परीक्षा में उत्तीर्ण कराने में उनका बड़ा हाथ हो इसलिए उन्हें महत्त्व मिला हो। कुछ बात जमती न देखकर और उधर दिमाग के झरोखों से अन्य महत्त्वपूर्ण विचारों को झँकते देख, इस सन्देह को दफनाने के लिए मैंने लड़को से पूछ दिया "भाई मिस्टर पी० आर० चौहान कौन हैं?" एक ने बताया "यह दिल्ली के राजा थे।" दिल्ली के तख्त पर चढ़ते-उतरते लोगों की एक फेहरिस्त नजरो में घूम गई और राजेन्द्रबाबू के सप्रयत्न मुसकराहट वाले चित्र पर रुकी परन्तु मिस्टर पी० आर० चौहान न दिखाई दिये। मुझे हैरत में देखकर एक बड़े लड़के ने कहा, "अजी वही जो कन्नौज की सयोगिता को ले भागा था।" मैं सन्नाटे में आ गया।

वीर यशस्वी पृथ्वीराज चौहान सिकुड़ कर मिस्टर पी० आर० चौहान बन गया था। शानदार ऊँची मुच्छ, वीरोचित भव्य मुकुट और चमचमाती तलवार लिए पृथ्वीराज के चित्र के साथ मुच्छ सफाचट, सोल हैट पहिने, बलखाता बेल लिए मिस्टर पी० आर० चौहान का कल्पित स्वरूप का सघर्ष मेरे मस्तिष्क में आरम्भ हो गया। एक के प्रति श्रद्धा, वीरपूजा, अपनत्व की भावना उद्वेलित थी तो दूसरे के लिए श्रृणा, दया और दूरत्व की। एक विशिष्ट स्वदेशीय था तो दूसरा निकृष्ट विदेशीय। एक विशुद्ध भारतीयता का आदर्श था तो दूसरा अशुद्ध-मिश्रित संस्कृति का प्रतीक। इस सघर्ष के अन्धकार में उस बड़े लडके का आँख मारना विद्युत-सा चमक जाता था जिसके प्रकाश में परिवर्तित स्वरूप और भी निखर आता था। वीरता, देशभक्ति और प्रेम के इस उच्च उदाहरण को लोलुपता, स्वामिभक्ति और इस्कमिजाजी की तुच्छ मिसाल में बदलते देख हँसी और रोष दोनों आता था। गौरी का डटकर मुकाबला करनेवाला और सयोगिता को पराक्रम से प्राप्त करनेवाला पृथ्वीराज चौहान लडको की नजरों में एक कायर कुचाली मिस्टर पी० आर० चौहान था। यह स्कूल के इतिहास-विशेषज्ञ के दिमाग की सूझ थी जिन्होंने नया नामकरण किया था। उन्हीं की अनुसंधान के फलस्वरूप जिसके नाम से बच्चों का मस्तक ऊँचा उठना चाहिए उसका वे मजाक उड़ाते, आँख दबाते थे। लोग कहते हैं कि हिस्ट्री से शिक्षा मिलती है कि 'जिसे मरना न आया, उसे जीना न आया' किन्तु यहाँ कुछ विपरीत शिक्षा मिल रही थी।

यदि इस तरह सक्षिप्तीकरण स्वीकृत किया गया तो फिर आदमी बदल जाएँगे, दुनिया नेस्तनाबूत हो जाएगी। मिस्टर आर० पी० सिंह सम्राट् अकबर को दहलानेवाले राणा प्रताप न रह जाएँगे वरन् अकबर के मुहफिजखाने में किसी नौकरी की तलाश में दर-दर पेट खलाते हुए आधुनिक शृगाल बन जाएँगे। राजा आर० एम० राय के सक्षिप्त नाम में ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहनराय की पगड़ी उतार ली जान

पड़ती है। इस कारण विदेशी इतिहासकार उनका पूरा नाम ही लिखते हैं। भगवान् एस० के० यदुवशी षोडशकलायुक्त भगवान् श्रीकृष्ण का नाम कदापि नहीं हो सकता। भारत में तो पूरे नाम लेने की प्रथा थी और है भी। लोग कभी बड़ा नाम ही न रखते थे। अर्जुन, भीम, अशोक, हर्ष, रुजिया, जहागीर, दयानन्द आदि छोटे-छोटे अच्छे नाम थे जिन्हें याद रखने और कहने में कठिनाई न होती और न अधिक वक्त जाया होता। चरक, तुलसी, मण्डनमिश्र के नाम छोटे होने से उनकी प्रतिभा छोटी नहीं होती। आजकल भी लोग छोटे नाम रखते हैं, गोविन्द शर्मा, श्याम वर्मा, प्रमोद गुप्त, अरुण भा कितने सरल नाम हैं जिनके लिखने में इनीशियल्स से अधिक अक्षरों की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह इनीशियल्स लिखने की प्रथा भारतीय नहीं है। यदि होती तो महाकोष और शब्दसागर में गोते लगाने पर कोई न कोई मोती मिल ही जाता और इस लेख का शीर्षक अंग्रेजी शब्द न होता। प्रथमाक्षर तथा आद्याक्षर ऐसे भाषा के शब्द तो ठोक-पीटकर गढ़े गए हैं। उनका प्रयोग कभी इस अर्थ में नहीं होता रहा है। अतः शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह 'उदधि पार के नित नव बादो' में से एक है।

यह खोटा सिक्का अठारहवीं शताब्दी में जान कम्पनी के साथ आया और उसी ने इसे यहाँ चलाया। अंग्रेजी में ही इनीशियल्स लिखने की प्रथा है। उनके बिरादर अमरीकी नाम का अग्रिम भाग पूरा लिखने के पक्ष में है। हेरी ट्रूमान, एल्वा एडीसन्, अल्बर्ट आइन्स्टीन इनीशियल्स के चक्कर में नहीं पड़े। अंग्रेज अपना नाम छिपाने के लिए अक्षरों का सहारा लेते हैं। उनका छिपाना भी जायज है क्योंकि उनके नाम भी तो विचित्र ही होते हैं। वे लिए न जाएँ सो ही अच्छा। मकाले के फरमान के बाद अंग्रेजी पढ़ने वालों ने अपने गौरांगस्वामी की नक़ल की और नाम का सक्षिप्तीकरण आरम्भ कर दिया। करते भी न, तो क्या करते। कुछ लोगो के नाम तो एक पूरी पक्ति में पसरे पड़े रहनेवाले होते थे। ददीगूल नतीवेली त्रिवेन्द्रम महालिंगम् को ही

ही लीजिए गाँव तहसील जिला सभी को नाम के साथ टाँगे है। नाम उल्टा कर दीजिए लिफाफे के ऊपर का पता बन जाए; सीधा रखिए तो मनुष्य का नाम हो जाए। ऐसे भीमकाय नामों को कौन कहे, सुने और लिखे। अतएव इनीशियल्स का बड़ा सहारा हो जाता है। डी० एन० टी० एम० लिगम् छोटा नाम है, साहेबियत लिए है; गाँव और जिला अपने आँचल में छिपाये है, किन्तु गोपनीय को अधिक स्पष्ट बनाए है। हिन्दी में लिखिए द० न० त्र० म० लिगम् बन जाता है जिसे कहने में जान पड़ता है कि छोटा मुन्ता ककहरा पढ़ रहा है।

जब से हिन्दी का बोलबाला हुआ, प्रादेशिक भाषाओं ने जोर पकड़ा तब से यह इनीशियल्स और भी दफसट में आए। प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी इच्छानुसार इन्हे तोड़ा-मरोड़ा। श्याम नारायण कपूर क्या करते? उन्होंने आधे 'श' का ही प्रयोग किया और इ० ना० कपूर लिखने लगे। किन्तु हिन्दी में आधा वर्ण अकेला नहीं लिखा जाता। यदि श्या० लिखे तो म ने क्या कसूर किया है जो उसे तलाक दिया जा रहा है। उनके साथी स्वराज्यप्रसाद शर्मा की तो जान पर आ गई। स्व० प्र० शर्मा लिखें तो जीते-जागते अपने को स्वर्गीय बनाए देते हैं। गुलाबचन्द सोनी हिन्दी के इनीशियल्स से ऐसा घबराए कि उन्होंने जी० सी० सोनी अपनाया। हिन्दी-अंग्रेजी की खूब खिचड़ी पकाई। जी० सी० की हिन्दी में व्याख्या किया कीजिए घण्टो कोई नाम समझ में नहीं आएगा। जी० से जीवन समझ लीजिए तो सी० से क्या बनेगा। सीन, सीकर, सीतल, सीनरी ऐसे थोड़े शब्द आएँगे जिनमें से कोई जमता हुआ नहीं दिखाई देगा। आप समझेंगे कोई सरदार जी है जो जीवनसींग लिखते हैं परन्तु सिंह के सींग नहीं होते और सरदार सोनी नहीं होते। अतएव परेशानी और हैरत में पड़े रहिये; अटकल-बाजियाँ लगाइए। नाम न हुआ अमीर खुसरो की पहली हो गई। बहुत सरपच्ची करने पर मालूम होगा कि यह नाम वर्णशंकर है, अंग्रेजी और हिन्दी के सह-अस्तित्व का द्योतक है। बिछुडती हुई अंग्रेजी से गलगोफा डाले है।

इनीशियल्स अंग्रेजी के हैं लिपि नागरी है। अंग्रेजी परिधान में देशी साहब है। देशी गधा है विलायती रेंकन। तब नाम का पूरा पता चल सकेगा। यदि एक-एक नाम पर इतने शोध की आवश्यकता पड़ी तो उनकी बोधगम्यता गायब हो जाएगी।

हेमन्तराम अपने हस्ताक्षर हे० राम करते हैं जिसे देखकर चित्त दुखित हो जाता है। बिचारा किस कठिनाई में है, किस आफत का शिकार बना है, जो इतनी आर्द्रता से 'हेराम' लिखता है। हरिगोपाल मुकर्जी के इनीशियल्स में क्या छीछालेदर हो जाती है। गजानन धामेश्वर बापट आदमी से गधा बन जाते हैं। सुन्दरदास अग्रवाल सुन्द राक्षस की सज्ञा पाते हैं। विश्वेश्वरप्रसाद गुप्त बनिया से विप्र बनने की चेष्टा करते दिखाई देते हैं। महेन्द्रराम कण्टवार जिन्दा होते हुए भी अपने को मरा लिखते हैं। शैख ताहिर नबी जैदी खॉमखाँ अपने शैतान होने की शोहरत करते फिरते हैं। खलीकुल रहमान लोदी व्यर्थ में खर की उपाधि लिए घूमते हैं। हजरत उमराव अली बिरयानी बच्चों को हऊआ बनकर क्यों डरवाते हैं? अगर इन इनीशियल्स से काम लिया गया तो बहुतों का नाम बदनाम हो जाएगा।

हमारे नामों में प्रायः समास होता है। रामलाल तथा शिवप्रसाद राम के लाल और शिव के प्रसाद हैं। इसमें समासभंगी कौन कवायद बरदाश्त करेगी? दोनों शब्द मिलाकर ही लिखे जाते हैं। लेकिन अंग्रेजी के दो टूक के नामों की देखा-देखी यहाँ भी दो टूक कर दिए गए। इनीशियल्स की खोज में ऐसा विच्छेद भाषा-सगत नहीं। कुछ नाम तो घोर समासी होते हैं जैसे विनोदानन्द। विनोदानन्द समास विग्रह में विनोद और आनन्द हो जाता है। यदि इसमें डिवाइड एण्ड रूल का अंग्रेजी फार्मूला लगाया गया तो विनोदा और नन्द हो जाएगा। विनोदा का क्या अर्थ? शायद विनोद का स्त्रीलिंग है। और नन्द उसका बच्चा। अथवा यो कहिए कि नन्द वश के कोई विदूषक हैं। किन्तु इस विग्रह में

विनोद का आनन्द जाता रहा। कैसा अर्थानर्थ, खुदाहाफिज। ऐसे इनीशियल्स को पाँच हाथ दूर रखा जावे सो अच्छा।

अपने छोटे स्वदेशी नाम तो इनीशियल्स स्वीकार ही नहीं करते। अकबर को ही लीजिए जो अ० बर हस्ताक्षर करेंगे। लोग पूछेंगे कि क्या यह साहब छैर-छरन्दे है जो किसी को बरने के लिए बुलाते है। सन्तुघन अपने स० (सहस्र) घन किस पर चलाएँगे? बी० बल लिखने वाले बीरबल किसके पराक्रम पर इतराएँगे—छोटी बी या बड़ी बी के? गजानन ग०नन बनने पर फिर क्या मर्द रह सकेंगे? इकबाल तो आई० बाल बनकर आँखों की पुतली थिरकाते फिरेगे।

भाषा की इस बदलती दुनिया में कुछ समझदार लोग भी हैं जो हिन्दी की चिन्दी उड़ाने के पक्ष में नहीं हैं। वह भाषा के जीनियस को पहिचानते हैं और अपनी भारतीयता पर अडिग डटे हैं। अंग्रेजियत की आखिरी किताब पढ़े होने पर भी कई व्यक्ति जब हिन्दी में हस्ताक्षर करते हैं तो अपना पूरा नाम अंकित करते हैं। उन्हें इनीशियल्स के दामन में मुँह छिपाना पसन्द नहीं। जो कुछ है उसका खुले खजाने इजहार करते हैं। कागज पर लम्बायमान हो लेटासन लगाए डटे हैं। अंग्रेजी पढाई-लिखाई की दो ऊँची सस्थाओं के उपकुलपति और अपने समय के नामी-ग्रामी लीडर महामना मदन मोहन मालवीय तथा सर-सय्यद अहमद खाँ तो कभी भी इनीशियल्स की अंग्रेजियत में नहीं फँसे। हिन्दी के हिमायती बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० और पंडित रविशंकर शुक्ल ने शब्दों का परित्याग कर अक्षरों में सिमिटना कब पसन्द किया? नोबल पुरस्कार पा लेने पर भी विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपना नाम छोटा नहीं किया, हालांकि छोटे-से-छोटा होने पर भी उनका नाम बड़ा तो हो ही जाता।

यह आपके हाथ में है चाहे तो झरोखा-दर्शन दें अथवा विराट् रूप दिखाएँ। 'मसक समान रूप तुम धरहु' अथवा 'कनक भूधराकार शरीर करहु।' यह तो आपकी पसन्द, जनाब की खुशी, हुजूर की मरजी

पर निर्भर है । किन्तु याद रखिए कि जैसा कुछ आप अभी से आरम्भ करेगे वह आपके आजीवन पीछे पड़ा रहेगा । यदि आप डी० एन० जैन बने तो फिर देवनारायण जैन के नाम से आपको कोई नहीं जानेगा । पहले नाम के साथ ऐसा साहचर्य बढ़ेगा कि फिर यदि आप पूरा नाम लिखना भी चाहे तो आप को डी० एन० जैन उर्फ देवनारायण जैन ही लिखना पड़ेगा । तब लोग आप को जान सकेंगे, पहिचान सकेंगे । इसलिए अभी से सावधान हो जाइए, सतर्क हो जाइए; नाम की मिट्टी पलीद न कीजिए, उसे रोशन कीजिए, खूब बढ़ाइये । नहीं तो जब बेनिशा हो लिए फिर नामोनिशा पैदा न होगा ।

कुछ श्रेष्ठ क्षिप्रोत्तर

उस दिन ट्राम में बैठते ही मैंने देखा कि समग्र यात्रियों की आँखें एक देवीजी पर टिकी हुई हैं। अतएव मैंने भी बिना जाने-पूछे उन्हीं पर दृष्टि-पड़ाव डाल दिया। वस्तु दर्शनीय थी, आश्चर्यजनक और आकर्षणीय भी। भारी भरकम शरीर, जिसकी चौड़ाई-लम्बाई में थोड़ा ही अन्तर था। विकराल बाहु हमारी आपकी जाँघों से मोटे और दानवीय पैर फीलपाँव से होड़ ले रहे थे। उसका आनन भी शरीर के समान ही भयानक था। श्रीमती के अगल-बगल की सीट पर सिकुड़े बैठे लोग अपना सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य सराह रहे थे। देवीजी के साथ पसघा की भाँति एक बालक भी था; जो निश्चित भाव से अपने खिलौने से खेल रहा था। सहसा ट्राम रुकी और द्वार से एक श्रीमान् श्रीमतीयुक्त प्रविष्ट हुए। पूर्व परिचित होने के कारण मोटापा की मूर्ति ने अपने प्रसङ्ग से कहा, “जानी, उठो और इनमें से एक को स्थान दो।” जानी बड़ा समझदार बालक था, अतएव उसने दोनों की समस्या हल करने के खयाल से उत्तर दिया, “तुम्हीं क्यों न उठो और दोनों को स्थान दो।” स्त्री के नेत्र लाल हो गए। लोगों के कहकहे के बीच एक चटाख का शब्द हुआ और बालक के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होती दिखाई दी।

मैं भी हँस पड़ा, किन्तु बालक की करुण दशा देखकर शीघ्र ही विचार-प्रवाह में पड़कर मौन हो गया। प्रश्न था, कौन अधिक प्रभाव-शाली है—हाथ का थप्पड़ या बात का तीर। निश्चय ही बालक ने अबोध भाव से ही तीर मारा था, जिसके परिणामस्वरूप मोटी मेम

भीतर-ही-भीतर अब भी धधक रही थी। बालक की अशान्तिकारी अश्रु-धार उसे शान्त करने में लेशमात्र भी सफल होती न दिखाई देती थी।

अस्तु, क्षिप्रोत्तर की यही विशेषता है कि वह मनुष्य की बोलती बन्द कर देता है। वह मन मसोसकर, लज्जित होकर, कटकर रह जाता है। वाणी रखते हुए भी वह निर्वाणी हो जाता है। वाचाल कहलाते हुए भी वह मूक बन जाता है। मस्तिष्क होते हुए भी वह किम्-उत्तर विभूढ हो जाता है। बालक का उत्तर कितना तेज, आकस्मिक एवं अन्तिम था। अन्य श्रेष्ठ उत्तरों की भाँति उसमें भी अनेक गुण थे। इसने बालक की प्रतिभा, चंचलता तथा तीव्र बुद्धि की एक झलक दिखा दी। इसने बालक के व्यक्तित्व का एक नग्न चित्र हम लोगो के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। विधना की बौखलाहट का नमूना देखते हुए शुष्क नीरव यात्रियो के मध्य एक कृपाण-सी चमक गयी, जिसने हृदय में वह धक्का मारा कि सब एक साथ हँस पड़े। इसके उत्तर का कोई प्रति-उत्तर ही न था अथवा यो कहिए कि इसका कोई उत्तर हो ही नहीं सकता था। भला विद्युत्-तडक का कोई उत्तर दिया जा सकता है ? वह आई और गई, केवल उसकी चमक से ही आस-पास का प्रदेश प्रकाशित हो उठता है।

सभी उच्चकोटि के उत्तरों की यही विशेषता होती है। वे चकित स्तम्भित करने के साथ-ही-साथ वाद-विवाद का भी अन्त कर देते हैं। उसमें और तर्क करने की सन्धि नहीं रहती। वास्तव में वे इतने क्षणिक होते हैं कि उन्हें पकड़ना, कौध को पकड़ने का प्रयत्न करना है। उनसे व्यक्तित्व और विषय दोनों पर ही प्रकाश पड़ता है। बहुत से बड़े लोग अपनी इसी वाक्पटुता के लिए विश्वविख्यात हुए हैं।

भारतीय राष्ट्र के सूत्राधार महात्मा गांधी क्षिप्रोत्तर देने में बड़े कुशल थे। उनसे पत्रकार तथा अन्य लोग नित्य ही बीसो ऐसे प्रश्न किया करते थे, जिनके विषय में उन्हें मौन रहना ही वांछित होता था। किन्तु महात्मा जी स्वयं मौन न रहकर अपने इस अस्त्र से प्रश्न-

कर्ता को मौन कर देते थे। उनके इंग्लैण्ड जाने के समय उनके पहनावे पर बड़ी चर्चा छिड़ी। एक अग्रेज पत्रकार ने पूछ ही तो लिया—“आप इंग्लैण्ड में कौन वस्त्र पहनिएगा ?” महात्मा जी मुस्कराकर बोले—“आप लोग प्लस फोर पहनते हैं, मैं माइनस फोर पहनूंगा।” समग्र परिधान त्यागकर लंगोटी लगाने वाले का यह उत्तर बड़ा गूढ़ एवं मार्मिक था।

“आप रेल में तीसरे दर्जे से क्यों यात्रा करते हैं ?” एक उत्सुक एव हठी व्यक्ति ने कई बार पूछा। “क्योंकि चौथा दर्जा नहीं।” दरिद्र-जनोपकार-निमग्न एक विश्व-विभूति को निकृष्ट से निकृष्टतम दर्जे में चलने के लिए तत्पर देख उसने फिर मुँह न खोला।

इंग्लैण्ड के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री लायड जार्ज अपनी व्यंग्योक्तियों के लिए बड़े प्रसिद्ध हो गए हैं। उनके क्षिप्रोत्तरो में हास्य का पर्याप्त समावेश रहता था। एक दिन वे अपने निर्वाचन-क्षेत्र की एक सभा में भाषण दे रहे थे। किसी विपक्षी विघ्नकर्ता ने सहसा प्रश्न किया—“मिस्टर लायड जार्ज, क्या आपको पता है कि आपके बाबा एक गधा-गाड़ी हाँका करते थे।” लायड जार्ज इस प्रश्न को सुनकर सन्नाटे में आ गए। किन्तु उन्होंने शीघ्र ही उत्तर दिया, “सज्जनों कृपया आप मुझे क्षमा करें, गाड़ी के विषय में मुझे स्मरण नहीं, किन्तु मैं देखता हूँ कि गधा अब भी जीवित है।” सभा जोर से हँस पड़ी और विपक्षी मुँह छिपाकर भाग खड़ा हुआ।

एक दूसरे अवसर पर एक क्रुद्ध महिला ने बात काट कर कहा—“वेल, मि० लायड जार्ज, यदि मैं तुम्हारी पत्नी होती तो तुम्हें विष दे देती।” प्रधान मंत्री ने मुस्कराते हुए कहा “देवी यदि आप मेरी पत्नी होती तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता।” भद्र महिला का मुँह बन्द हो गया और उसने सौगन्ध खायी कि भविष्य में कभी सार्वजनिक सभाओं में वह मुँह न खोलेगी।

एक बार वेल्स प्रान्त के किसानों ने भाषण देते हुए श्री लायड

जार्ज ने कहा—“हम लोग आयरलैंड में स्वराज्य स्थापित करेंगे और स्कॉटलैंड तथा वेल्स में भी।” एक पियक्कड़ ने लडखड़ाकर खड़े होते हुए कहा—“और जहन्नुम मे भी।” कुशल वक्ता ने धीरे-से प्रति-उत्तर दिया—“बिलकुल ठीक है, मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने देश की माँग रखे।”

पण्डित मोतीलाल नेहरू भी इस विषय में बड़े दक्ष थे। उनके क्षिप्रोत्तरों में चाहे हास्य की कमी रहती हो किन्तु वे व्यंग्य और कटाक्ष से ओतप्रोत रहते थे। दिल्ली में एक उच्च अफसर, जिससे पण्डित जी किसी सरकारी विषय पर विवाद कर रहे थे, सावेग पूछने लगा—“पण्डित जी, आप मुझको क्या समझते हैं?” पहले तो नेहरू जी ने ध्यान नहीं दिया, परन्तु जब प्रश्न बार-बार दुहराया गया, तो पण्डित जी बोले—“क्यों? मैं आपको एक भद्र पुरुष समझता हूँ। सम्भवतः मैं गलती करता हूँ।” अन्तिम वाक्य को धीरे से कहते हुए उसकी सज्जनता पर सन्देह करने वाले नेहरू जी को देखकर उसका क्रोध काफ़ूर हो गया और फिर वह बड़ी विनम्रता से बातचीत करता रहा।

श्रेष्ठ नाटककार जार्ज बर्नार्ड शा तो व्यंग्य और कटाक्ष की मूर्ति ही माने जाते हैं। खरी कहने में शायद ही उनका सानी हो। उनका बात करने का ढंग इतना अनोखा था कि सत्य रहते हुए भी वे उसे विनोदपूर्ण तथा हास्यजनक बना देते। एक बार एक श्रेष्ठ सिनेमा अभिनेत्री ने श्री शा को लिख भेजा कि वे उससे विवाह कर लें, जिससे उनका बालक उसकी सुन्दरता तथा शा की बुद्धि लेकर उत्पन्न हो। शा ने तुरन्त उत्तर लिख भेजा—“और मान लो देवी जी, यदि बालक मेरी सुन्दरता और तुम्हारी बुद्धि का हुन्ना, तब?”

लन्दन की सड़क पर सामने से क्षीणकाय जार्ज बर्नार्ड शा को आते देख, भीमकाय जी० के० चेस्टरटन ने कहा—“मिस्टर शा यदि कोई विदेशी आपको देखेगा तो समझेगा इंग्लैंड में कहत पड़ रहा है।” तुरन्त शा ने उत्तर दिया “और वह यह भी समझेगा कि उसका कारण

आप हैं।” दोनों ठहाका मारकर हँस पड़े। एक परिचित महिला को श्रृंगार में देखकर शा ने कहा—“मिस जेम्स, आज आप बहुत सुन्दर दिखलाई देती हैं।” महिला ने कुशाग्र बुद्धि का परिचय देने के विचार से कहा—“आप प्रशंसा लौटाने की मुझसे अपेक्षा न करें।” “अरे नहीं”, शा ने कहा—“आप भी वैसा कीजिए जैसा मैंने किया है, झूठ बोल दीजिए।”

शान्ति-निकेतन के शान्त स्वभाव गुरुदेव इस विषय के कोई विख्यात विशेषज्ञ नहीं, परन्तु कभी-कभी वे लाख टके की बात कह जाते थे। जो विक्रेता जिस किसी वस्तु का नमूना कवीन्द्र को दे जाता, वह उनके सरल स्वभाव का लाभ उठाकर अपनी वस्तु के विषय में एक प्रमाण-पत्र लिखा ले जाता था। एक-एक दिन में बीसों प्रमाण-पत्र बाँटने देख रविबाबू के मन्त्री ने कहा—“महाराज, यदि आप ऐसा करेंगे, तो शीघ्र ही आप पृथ्वी की समग्र वस्तुओं को प्रमाण-पत्र दे डालेंगे।” कवि सम्राट् ने उसे सुन लिया और शान्तिपूर्वक बोले—“आप सत्य ही कहते हैं, परन्तु पृथ्वी पर एक वस्तु है; जिसे मैं कभी प्रमाण-पत्र न दूँगा।” मन्त्री की उत्सुकता बढ़ी और वह कान खड़े कर उनके मुख की ओर देखने लगा। गुरुदेव ने उत्तेजनाहीन होकर कहा—“रेजर ब्लेड्स”। ब्लेड्स कम्पनियों को इस विशाल एवं प्रभावशाली दाढ़ीवाले से निराश ही रहना पड़ेगा।

आचार्य द्विवेदी जी के व्यंग्य में कटाक्ष की मात्रा अधिक होती थी। ऑक्सफोर्ड स्ट्रीट लन्दन से ‘सरस्वती’ की प्रति लौटाते हुए एक बाबू शिवचरणदास ने लिखा कि अमुक लेख की अन्तिम पक्तियों में आप ने जो परिवर्तन कर दिया है, उससे यही स्पष्ट होता है कि भारतीयों के हृदय में अभी भी दास्यभाव खूब अच्छी तरह जमा हुआ है। द्विवेदी जी ने लिख भेजा—“खेद तो इस बात का है कि जिस दास्य से आप को इतनी धृणा है, वह सदा के लिए आप के नाम में लगा हुआ है।”

सर रासबिहारी घोष इस कला में पूर्ण निपुण थे। मित्रों और

अफसरों को ताबड़तोड़ उत्तर देने के साथ ही वे जजों तक को भी न छोड़ते थे। एक कानूनी बहस के समय एक जज महोदय ने कहा, “वाह साहब, अगर कानून ऐसा हो, तो मैं अपनी पुस्तकें जला डालूँ।” सर रास तुरन्त ही बोल उठे—“नहीं माई लार्ड, अच्छा हो कि आप उन्हें पढ़ें।” एक दूसरे अवसर पर एक अहंकारी जज ने चिढ़कर कहा, “देखिए सर रास, आप मुझे कानून नहीं पढ़ा सकते।” “नहीं माई लार्ड, कभी नहीं।” ‘कभी नहीं’ शब्दों पर जोर देते देख जज का मुँह धुआँ हो गया और सब दग रह गए।

अमेरिका के प्रेसीडेंट लिंकन के उत्तरों में हास्य का ही आधिक्य होता था। उन्हें कटाक्ष करना नितान्त अवाञ्छनीय लगता था। इंग्लैण्ड के लार्ड लियोन्स जब उनसे एक बार मिलने गए, तो उन्होंने उस समय सभापति को अपने बूटों पर पालिश लगाते देखा। उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और बोले कि इंग्लैण्ड में तो लोग अपने जूते स्वयं साफ नहीं करते। लिंकन ने साधारण स्वभाव में होकर पूछा—“यथार्थ है, किन्तु फिर वे किसके जूते साफ करते हैं?” इसी प्रकार हास्य तथा विद्वत्तायुक्त उत्तर उन्होंने एक महिला को दिया था, जिसने पूछा था कि “क्या ईश्वर हम लोगों की ओर है।” “देवी जी, मुझे यह तो नहीं मालूम, किन्तु मैं आशा करता हूँ कि हम ईश्वर की ओर हैं।”

गाँव के भूत भगाने के लिए पुलिस का पहरा लगानेवाले दीवान बहादुर सर टी० विजयराघवाचार्य बड़े ही विनोदप्रिय तथा हसमुख हैं। उनके स्वागतार्थ होनेवाली कनाडा की स्त्रियों की एक सभा में सभानेत्री ने इनसे पूछा कि ‘डीवैन’ शब्द का ठीक-ठीक उच्चारण क्या होना चाहिए ?” शीघ्र ही राघवाचार्य जी ने उत्तर दिया—“इस सुन्दर स्त्रियों की सभा में मेरे नाम के आगे आनेवाले शब्द दीवान का उच्चारण ‘डियर वन’ की भाँति होना चाहिए।”

अस्तु क्षिप्रोत्तर देने में भी एक कला सन्निहित रहती है। यह एक ऐसी विलक्षण कला है, जो बिरले को ही प्राप्त होती है। अन्य श्रेष्ठ

गुणों की भाँति यह भी ईश्वर प्रदत्त ही कही जा सकती है। इसके लिए प्रत्युत्पन्न मति की आवश्यकता होती है। अर्जित शक्ति द्वारा भी इसमें स्तुत्य सफलता मिल सकती है, किन्तु प्रतिभा की तो बात ही निराली है। बड़ी-बड़ी सभाओं तथा विद्वानों की गोष्ठियों में क्षिप्रोत्तर-कर्ता का सिक्का जमा रहता है। लोग भयभीत से रहते हैं कि न जाने कब वह अपने अमोघ अस्त्र का प्रयोग कर बैठे। भारतीय दण्ड विधान की धारा 144 सम्भवतः लोगों का मुँह बन्द करने में उतनी सफल न होगी, जितना कि यह तत्काल निर्मित हास्यपूर्ण मर्मन्तिक दुधारा। परन्तु अभीष्ट प्रभाव डालने के लिए यह परमावश्यक है कि इस अस्त्र का प्रयोग तत्क्षण कर दिया जावे। क्षणमात्र के भी विलम्ब से इसका सौष्ठव नष्ट हो जाता है और फिर इच्छित चमत्कार दृष्टिगोचर नहीं हो पाता। जहाँ तक हो सके, क्षिप्रोत्तर में कटाक्ष से कहीं अधिक हास्य का समावेश करना चाहिए। यदि व्यंग तीसरे व्यक्तित्व के प्रति हो, तो कोई आपत्ति नहीं। व्यक्तिगत कटाक्ष करनेवाले को उल्टा तीर मारना अनुचित नहीं। किन्तु इन सब प्रयोगों में सतर्क रहना चाहिए, फारण कि परस्पर मनोमालिन्य तथा वैमनस्य के बीजारोपण की शका रहती है। निष्प्रयोजन ही किसी के हृदय को चोट पहुँचाना न्यायसंगत नहीं हो सकता।

बालक के क्षिप्रोत्तर में कोई कटाक्ष अथवा व्यंग्य न था। वह हास्य उत्पन्न करने के विचार से भी नहीं कहा गया था। भोले-भाले स्वभाव वाले जानी ने एक उचित बात कही थी। वह नितान्त निर्दोष था। ट्राम के यात्रियों का हँसना भी स्वाभाविक ही था। नारी को तनिक अधिक धैर्य, समझ और सहनशीलता से काम लेना चाहिए था। मनो-विज्ञान के पण्डित उस बालक की तीव्र बुद्धि की प्रशंसा ही करेंगे। उसके अनुसार यदि बालक को इस गुण के विकास का अवसर दिया जाए तो अवश्य ही वह एक दिन कुशाग्र-बुद्धि का होगा। किन्तु अपने शरीर के समान मोटी बुद्धिवाली को इसका ज्ञान कहाँ ?

आलोचना पाठ

बी० टी० और एल० टी० ट्रेनिंग में आलोचना पाठ पढ़ाना एक बला होती है; वह भी यदि पाठ साहित्य के अन्तर्गत कविता का हुआ तो खासी मुसीबत का सामना समझिए। शिक्षक रामखिलावन ने जो पाठ्य पुस्तक खोलकर देखी तो अगला पाठ कविता का था और प्रसंग विशेष लक्षण-परशुराम सम्वाद। वे उसके पढ़ाने की उधेड़बुन में लग गए। पुस्तक पढ़ी, सहपाठियों से सलाहे ली, कोश ढूँढ़े। और फिर इस सम्बन्ध में आखिरी हिदायते लेने के लिए वे पद्धत्याचार्य के पास पहुँचे। उन्होंने एक किता भाषण भाड़ दिया। बोले “सभी ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे काव्य नहीं पढा सकते। इसलिए काफी तैयारी कीजिए। देखिए कवि की हवाई कल्बना निराकार होती है। लेकिन उसे कक्षा समक्ष साकार करना एक टेढ़ी खीर है। गद्य और पद्य के पढ़ाने में जमीन-आसमान का अन्तर है। ‘ग’ से क्या होता है, और ‘प’ से क्या? वर्णमाला की पुस्तक में ‘प’ से पतंग होती है न और ‘ग’ से? फिर कहाँ भुई लोटन-हारा और कहाँ गगनविहारिणी। गगन की सृष्टि बालसदन में करनी पड़ती है। आनन-फानन में कविता कानन खड़ा करना पड़ता है। सक्षेप में काव्योपयुक्त वातावरण का निर्माण करना होता है, शायराना माहौल पैदा करना पड़ता है, पोयटिक एटमास्फियर क्रिएट करना होता है। वातावरण बना कि कविता अध्ययन सफल, वातावरण बिगडा कि अध्यापन असफल। यही काव्य शिक्षण की कुजी है, धेय है, त्राण है, प्राण है, सब कुछ है। इसी पर जोर दीजिए, बल दीजिए, पूरा पराक्रम

लगाइए। येन केन प्रकारेण इसी का निर्माण कीजिए। आपका पाठ उत्तम होगा, सार्थक ढुनेगा।”

हिन्दी के आचार्य ने नवसिखिया शिक्षक को ऐसे आदेश दिए और उसने एक-एक बात की गाँठ बाँध ली अपने रूमाल में।

होस्टल में लौटकर रामखिलावन ने धनुष-भग प्रकरण बड़ी सावधानी से आद्योपान्त पढ़ डाला। अब रही वातावरण वाली बात सो उसके निर्माण हेतु विचारमग्न होने लगा। दूसरे दिन सबेरे तक वातावरण दिमाग में छा चुका था। हाथ की झटक और पाँव की पटक से जान पड़ता था कि वह अब नाखूनो तक व्याप्त हो चुका है। परिधान में भी उसके गुण परिलक्षित हुए। तिलगा धोती, कुर्ता रेशमी, सिरविन टोपी, प्लैटफार्म मार्का चन्दन गोपी। हाथ में फरसा एक अदद, कन्धे पर धनुष दो अदद जिनमें से एक टूटा, कागजी खोखा बनाम तरकस, भोले में खडिया तीन अदद और झाड़न वगैरह लादे-फाँदे शिक्षक महोदय ठीक साढ़े दस बजे कक्षा में दाखिल हुए। विद्यार्थीगण यह सब साज-सज्जा देखकर पहले तो आश्चर्य चकित खड़े हुए परन्तु फिर यह सोचकर कि ट्रेनिंग कालेज की पढाई में बड़े-बड़े करिश्मे दिखाए जाते हैं, उत्सुकता और जिज्ञासा लेकर बैठ गए।

सब हथियार यथास्थान रखकर केवल अभिनय कवच पहिने हुए शिक्षक ने लक्ष्मण-परशुराम वाक्युद्ध की सूचना कक्षा को दी। सब को पार्ट बाँटते हुए बोले “मैं परशुराम हूँ, तुम सब अपने को लक्ष्मण समझो, बड़े लड़के अपने को राम और जनक समझ सकते हैं; कौशिक जी अभी आते होंगे।” इतनी भूमिका बाँधकर शिक्षक ने हाथ में मजबूती के साथ पुस्तक पकड़ी और सस्वर पाठ करने लगा—

अति रिसि बोले बचन कठोरा, कहूँ जड़ जनक धनुष कै तोरा।

वेगि दिखाउ मूढनत आजू, उलटऊँ महि जँह लहि तब राजू।

अति डर उत्तर देत नृप नाही, कुटिल भूप हरषे मन माही।

आवाज की बुलन्दी, स्वर के उतार-चढ़ाव, डाँट-डपट, हाव-भाव के

कारण वातावरण की सृष्टि होने लगी। कभी परशुराम के कर्कश शब्द सुनाई देते थे, तो कभी राम की विनम्र वाणी और कभी लक्ष्मण के व्यंग वचन।

दो बार पूरा प्रसंग नाटकीय ढंग से पढ़ने के बाद रामखिलावन ने एक बालक से प्रश्न किया 'कहु जड रतन धनुष कै तोरा ?' जड़ता सिर पर चढ़ती देख रतनकुमार बोला—

जड जनि कहहु तात तुम्ह मोही, जस गुरु कृपा शिष्य तस होही।

शुरू में ही गाड़ी को पटरी से उतरते देख शिक्षक ने लड़के को डाँटने और उसकी जड़ता का आरोप स्वयं ओढ़ने की गरज से कहा—

बालक बोलि बधउँ नहि तोही, केवल गुरु जड़ जानेसि मोहीं।

इतने में कौशिक महाराज ने निरीक्षक के रूप में साक्षात् पदार्पण किया। इससे कुछ लड़के डरकर निरुत्तर हो गए और कुछ कुटिल छात्र शिक्षक का रंग बिगड़ता देख मन-ही-मन हँसने लगे और कुछ खीसे निपोरने पर आ गए। 'अति डर उत्तर देत नृप नाही, कुटिल भूप हरषे मन माही।' शिक्षक ने दो-चार की ओर स्पष्ट इशारा किया कि वे उत्तर दें किन्तु किसी को साहस न हुआ। तब रामखिलावन बोले—

उतर देत छोडउँ बिनु मारे, केवल कौशिक शील तुम्हारे।

निरीक्षक की उपस्थिति के कारण शिक्षक को निषिद्ध शारीरिक दण्ड देना उचित न जान पड़ा।

हँसत देख नखसिख रिस व्यापी, बहहि न हाथु दहहि रिस छाती

इस नाटकीय ढंग की पढ़ाई से कक्षा में कुछ ऐसा सरदी-गर्मी का वायु-मण्डल बना कि एक लड़के को जुकाम होता जान पड़ा जिसकी सूचना उसके नथुनों से सवेग निष्कासित वायु के चीत्कार से मिली। उसकी धृष्टता से नाराज होकर शिक्षक बोले—

सहज टेढ अनुहरई न तोही, नीच-भीच सम देखु न मोही।

और फिर फरसा हाथ में लेते हुए बोले—

एहि के नाक कुठार न दीन्हा, तो मै काह कोप करि कीन्हा।

देखु अधम बड़ बालक एहू, कीन्ह चहत जड जमपुर गेहू ।

वेग करहु किन्ह आखिन्ह ओटा, देखत छोट खोट यह टोटा ।

आदेश पाते ही कक्षा-मानीटर ने बालक को हाथ पकड़कर बाहर निकाल दिया ।

इस सब का कुछ ऐसा समा बँधा कि कुछ समय तक कक्षा में निस्तब्धता का साम्राज्य स्थापित हो गया । रामखिलावन को रूमाल निकालकर पसीना पोंछने के अलावा और कुछ न सूझा । फिर बगलें झाँकने लगे । छिन बालको की ओर और छिन निरीक्षक की ओर देखते रहे । सहसा उनकी आँखें निरीक्षक महोदय के चिरजीव पर पड़ी जो उसी कक्षा में विराजमान थे । डूबते को तिनका मिला, मरते को सजीवनी । उन्होंने बड़ी आशातीत दृष्टि से उसकी ओर तर्जनी उठाई । किन्तु उसने समझा कि शायद अब उसकी बारी आई है बाहर निकाले जाने की । अतएव, पिता का संरक्षण तो था ही, उसने पूरा साहस बटोरकर उत्तर दिया—

पुनि पुनि सबहि दिखाउ कुठाह, चाहत उडावन फूँकि पहारू ।

इहाँ कुम्हण बतिया कोउ नाही, जे तरजनी देखि मरि जाँहीं ।

लड़के ने गुस्ताखी तो की ही थी किन्तु वह डबल हो गई उसके बैठे-बैठे उत्तर देने से । रामखिलावन कही पढ़ चुके थे कि कक्षा में अनुशासन-भगी बरदास्त न की जावे । अतएव उन्होंने तुरन्त डपट कर कहा—

रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होई, निर्भय बकेसि न जानेसि मोही ।

मोर प्रभाव विदित नहि तोरे, बोलसि निदरि विप्र के भोरे ।

और फिर निरीक्षक महोदय की ओर सकेत करके बोले—

कौशिक सुनहु मन्द यह बालक, कुटिल कालवस निज कुल घालक ।

वर्गहि महि राकेश कलकू, निपट निरकुश अबुध त्रिशकू ।

तुम हटकहु जो चहुहु उबारा, कहि प्रताप बलुरोष हमारा ।

वातावरण ज्यादा गरमा गया । दगल में निरीक्षक भी घसिट आए

भगडे-भांसे मे तमाशा बीनों पर भी बेभाव की पड़ी। आग के पास जाने से भाग भी सुनना पड़ा। निरीक्षक महोदय नजर वचाकर खिसकने की तलाश मे थे कि एक बड़े लड़के ने बड़े विनीत शब्दो मे कहा—

छमहु चूक अनजाने केरी, चहिस विप्र उर कृपा घनेरी।
सुनहु नाथ तुम सहज सुजाना, बालक वचन करिअ नहि काना।
बररै बालक एक स्वभाऊ, इन्हे न सन्त विदूषहि काऊ।
जो लरिका कछु अनुचित करही, गुरु पितु मातु मोद मन भरही।
आश्चर्य, गजब, अनर्थ। जमाने ने पलटा खाया। पानी नीचे से ऊपर बहने लगा। उल्टे बाँस बरेली को चलने लगे। शिष्य गुरु को शिक्षा देने लगा। अपमान, घोर अपमान, असह्य अपमान। थर्मामीटर का उतरता हुआ पारा फिर थिरक उठा और चोटी की ओर बढ़ा।

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई, भावइ मनहि कहतु तुम सोई।
रे रे अधम मरन अब चहसी, छोटे बदन बात बडि कहसी।
तुम्हकौ काल हाँकि जन लावा, तबहि देत मोहि आज सिखावा।

मातु पितहि जन सोच बस, करसि अबोध किशोर।

गर्व युक्त अर्भक दलन, परसु मोर अति घोर।

शिक्षक को फरसे की ओर झपटते देख—

थर थर कापहि बाल विचारा, हाय हाय सब क्लास पुकारा।

फरसा सर के ऊपर तनते ही प्रहार हुआ शाला की घण्टी पर जो भीषण धनघनाहट कर रो पड़ी। अपनी सामग्री बटोरकर रामखिलावन ने जो कक्षा के बाहर पैर रखा कि लड़को के चिल्लाने की आवाज आई 'बोल सियावर रामचन्द्र की जै।

तीन का अंक

‘तीन तिकट, महा विकट’ । न जाने तीन के अंक में क्या विकटता है कि लोग प्रायः इससे छड़कते हैं । बस की तीन नम्बर की सीट पर बैठना पसन्द नहीं करते; होटल के तीन नम्बर कमरे में ठहरने से आनाकानी करते हैं । तीन चीजों के लेन-देन में हिचकिचाते हैं, तीन व्यक्ति एक साथ यात्रा आरम्भ नहीं करते, न गच्छेद् ब्राह्मण त्रयम् । इस विचित्र आचरण का कुछ कारण समझ में नहीं आता । शायद त्रिकूट पर्वत पर लका बसी थी, अथवा त्रिजटा नाम राक्षसी एका, त्रिशकु प्रतरिक्ष में उल्टा टँगा रहा था या दण्डकवन विचरत त्रिशिरा की याद से लोग तीन से घबड़ाने लगे हों । त्रिताप, त्रिदोष या त्रिशूल से लोग समझने लगे हों कि तीन कष्टदायी अंक है । अथवा नरक के तीन द्वार और दण्ड के तीन विधान के कारण लोग तीन से भय खाते हों । संयोग से तीन के मुहावरे भी तिर्पट हैं । तीन-पाँच करने में तक़रार खड़ी होती है । कौड़ी के तीन बनने में नगण्यता प्राप्त होती है, जो न तीन में न तेरह में होने के बराबर है । तीन-तेरह होने में बारह-बाँट होता है । तीन लोक दिखाई देने से भला-चगा अन्धा बनता है और तीन लोक में मथुरा न्यारी होने से आदमी नक्कू बन जाता है । तीन टाँग का घोड़ा अनहोनी बात कहाती है और जो कही ‘तीन बुलाए तेरह आए तो फिर दे दाल में पानी’ होता है । इन किम्बदन्तियों और मुहावरों ने तीन को ले डाला । बद अच्छा बदनाम बुरा । तीन को लोगों ने बदनाम कर दिया है । शायद इसी से लोग तीन से डरने लगे हैं ।

तीन ने कुछ ऐसी दहशत पैदा कर दी है कि लोग उसे पीन-खीन करने में लगे हैं। अब तीन बातों के समूह से एक को खो दी जा रही है। जहाँ पुनीत त्रिवेणी प्रवाहित थी, वहाँ अब नगरों के प्रशस्त मार्गों पर सुकुमार द्विवेणी विचरण करती दिखाई देती हैं। नित्य पदार्थ तीन थे, ब्रह्म, जीव और प्रकृति किन्तु विज्ञानी ब्रह्म को विसर्जित करने में लगे हैं। प्रकृति के तीन गुण माने जाते थे सत्, रज, तम मगर अब सत् को सलाम कर लिया गया है। मानव के तीन धर्म विद्या, दान और यज्ञ कहे गए हैं। आजकल केवल दो ही मान्य हैं—दान में विद्यादान और यज्ञ में धूम्रपान। उसकी तीन क्रियाएँ शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक और तीन मार्ग कर्म, ज्ञान और उपासना प्रसिद्ध थे, किन्तु आजकल आध्यात्मिक और उपासना को हवा बता दी गई है। युग तीन थे मगर वर्तमान में दो ही माने जाते हैं कल्मयुग, कलो या यंत्रों का युग और कर युग, इस हाथ ले उस हाथ दे वाला युग। प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या तीन समय थे किन्तु अंग्रेजियत में पड़कर साहबों ने आठ नौ बजे सोकर उठना शुरू किया तो प्रातः के दर्शन दुर्लभ हो गए। ऋण तीन कहे गए हैं, भले ही वे कभी चुकाए नहीं जाते हो, किन्तु अब ब्याज सहित चुकता होने वाले दो ऋण रह गए हैं एक स्त्रीऋण जिसे मैहर कहते हैं और जो साले-सरहजों द्वारा घर में आकर डट जाने पर वसूल किया जाता है और दूसरा काबुली वाला ऋण जो डण्डे के बल पर वसूल होता है।

इस भूमि पर युनित्रय हुए किन्तु अब तो मुनि न होहि सब निश्चर घोरा। श्रोता तीन की जगह दो प्रकार के रह गए ऊबते और ऊँघते सरौता। अश्विनीकुमार के तीन पहिये के रथ त्रिचक्र की जगह अब लोग द्विचक्र पर चढ़कर हवा में उड़े चले जाते हैं। वश की तीन पीढियाँ मानी जाती थी जिसके त्रिपुरुष होते थे किन्तु अब लोग बाप तक को नहीं मानते तो फिर पितामह और प्रपितामह की क्या हस्ती। त्रिपुण्ड्र धारी त्रिपाठी या त्रिवेदी तीन वेद क्या उनके नाम तक नहीं जानते

मगर वश, विद्या और वैभव के त्रिमदो मे चूर अवश्य रहते हैं । ऐसे अनेकानेक सुनियोजित त्रिवर्ग और सुसंगठित तिगड्ड शब्दों को छिन्न-भिन्न कर दिया गया है । कारण केवल इतना कि तीन का भूत लोगों पर सवार है । तीन का अक ग्राया नहीं कि इतनी आनाकानी, टाल-मटूल, हीला-हवाला, आगा-पीछा करने लगते हैं कि मानो कोई बड़ी आफत आने वाली हो ।

परन्तु तीन अक से उत्तम कोई दूसरा अक नहीं । त्रिलोक मे उसका मान है । केवल पृथ्वी पर ही त्रयी की भरमार नहीं है वरन् स्वर्ग मे भी वह सम्माननीय है । आदि शब्द ओम तीन अक्षरों से बना है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिमूर्ति अथवा त्रिदेव कहलाते हैं । शंकर जी के अनेक नाम तीन का उपसर्ग लिए हैं यथा त्रिजट, त्रिनेत्र, त्रिलोचन, त्रिपुरारि । तुलसी त्रिलोचन त्रिगुण पर त्रिपुर मथन जय त्रिदशवर, विष्णु त्रिनाम कहलाते हैं । इन्द्र त्रिदशाधिप, ब्रह्मस्पति त्रिदशाचार्य, सूर्य त्रिलोकेश और दुर्गा त्रिनयना । राम तीन है और युग-काल भी तीन-तीन । बुद्ध भगवान का उपदेश-ग्रन्थ त्रिपटक और गायत्री छन्द त्रिपदा मे लिखित है । प्रायः प्रत्येक प्रक्रिया मे त्रिपुटी की आवश्यकता होती है । किसी बात को पक्का करने के लिए त्रिवाचा कराया जाता है । खर का सहार करने मे मर्यादा पुरुषोत्तम 'अकतोभय' तीन पद पीछे हटे थे । अतः बड़े बड़े देवी-देवताओं, उनकी स्तुति और मुचि साधनों मे तीन का अक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।

तब फिर त्रिलोक मे तीन का इतना सुन्दर साहचर्य है जितना शायद किसी और अक का नहीं । किन्तु लोगों ने खामखाँ रस्सी का साँप बना लिया है । इसका कारण तीन से सम्बन्धित मुहावरों को सदर्थ से तोड़कर व्यर्थ की खैचातानी करना और कुछ ऊटपटाँग किवदन्तियाँ ही जान पड़ती हैं । तीन तिकट महा विकट को ही लीजिए । पूरा मुहावरा है 'तीन तूकट महा विकट, चार का मुँहकाला, पाँच हो तो भाला' । यह तो नन्हें-मुन्नो का बनाया मुहावरा है जिन्हें थोड़ी चीज मिलने पर सतोष

नहीं होता। उन्हें तीन चीजें दीजिए तो उनकी इच्छा पूरी नहीं होती जान पड़ती अतएव वे कहते हैं, तीन चीज देना खराब, चार उससे भी खराब और पाँच सबसे खराब। आधे दर्जन में उन्हें सतोष होता दिखाई देता है। उनके लिए तो तीन, चार पाँच सभी खराब हैं। ऐसे ही छोटे बच्चे जब गिनती गिनना आरम्भ करते हैं तो चार भूलकर तीन पाँच कहने लगते हैं। अबोध बालकों की इन त्रुटियों को भुलाना चाहिये न कि खीच-तानकर अपने ऊपर ओढ़ना चाहिए। तीन में न तेरह में का मुहावरा तो एक अपढ़ नवाबजादे का बनाया है जो अपने मित्रों को याद रखने के लिए उन्हें चार श्रेणियों में विभक्त किए थे। कुछ को जवानी याद किए थे, कुछ की सुतली में गाँठ बाँधे थे और कुछ के नाम का एक-एक दाना करवा में डाल देते थे। एक बहुत पुराने मित्र उसके पास आए तो उन्होंने नहीं पहचाना और अपने गुमाश्ते से कहा कि यह भाई किसमें है। गुमाश्ते ने बताया कि 'यह न तीन में न तेरह में, बामन में न बहत्तर में, न सेर भर सुतली में न करवा भर राई में'। ऐसी कहावत में तीन का क्या दोष जब किसी नाख्वादा की स्मरण-शक्ति ही काम न दे। तीस लोक दिखाई देने में तो अन्तर्चक्षु खुल जाते हैं। सूरदास को देखिए न भवबधन मुक्त हो कृष्ण-भक्ति में लग गए। मथुरा की गली गली में मन्दिर घण्टे, खुरचन और पेड़े भरे पड़े हैं। तब वह तीन लोक से न्यारी क्यों न होगी। दाल में पानी डालने की बात तो किसी चतुर व्यक्ति ने संकट काल में उबरने के लिए बताई है। 'तीन बुलाए तेरह आए सुनो ज्ञान की बानी, राघौ चेतन बों कहे तू दे दाल में पानी'।

रही कुछ रोगों की बात तो उनके निराकरण की अनेक औषधियाँ तीन-तीन फल-फूल और जड़ी-बूटियों से ही बनाई जाती हैं। त्रिफला त्रिकुटा, त्रिमेद, त्रिसम, त्रिजातक, त्रिकाण्णिक, त्रिक्षार, त्रिकटुक आदि तीन वस्तुओं के योग से ही बनती हैं और तेहरा काट करती हैं। तीन का उपसर्ग लिए कुछ ही शब्द ऐसे हैं जो दुष्टजनों और उनके स्थानों से सम्बन्धित हैं अन्यथा अनेक ऐसे नाम हैं जो तीन के अंक को आँचल में

दबाए हुए देवी-देवताओं के नाम के आगे आते हैं। व्यर्थ में ही लोगो ने बिना समझे बूझे तीन को खराब मान रक्खा है और उससे भय खाते हैं। सच बात तो गोस्वामी जी कह गए हैं—‘तुलसी परिहरै तीन-भ्रम सौ साँचहि पहिचाने’। अब बताइए आप तीन का भ्रम छोड़कर सत्य को पकड़ेंगे कि नहीं ?

उस दिन मे अमीनाबाद मे चहल-कदमी कर रहा था । देखा दो आदमी भागते हुए कैसर बाग की तरकारी मण्डी की ओर जा रहे है । चार और लमकते दिखाई दिए, आठ, दस, पन्द्रह, गरज यह कि हर तीसरा आदमी कैसर बाग की तरफ बेतहाशा भागता जान पड़ा । मैने एक से पूछा—‘भाई, माजरा क्या है ?’ लेकिन वह कब रुकने वाला था । भागते हुए बोला—‘मूरा, मूरा यह बड़ा, ठेले पर लद कर गया ।’ उसके शब्द मेरे कानो से सनसनाते हुए निकल गए । मैं भी जरा गरमाया और एक भागने वाले का हाथ पकड़कर मैने उसे रोक ही तो लिया । ‘किबला, क्या आफत आई जो जान छोड़कर भाग रहे हो ?’ उसने हँफते हुए कहा—‘हुजूर एक मूरा (और फिर दोनो हाथ फैलाकर) इतना बड़ा, एक ठेले पर दस आदमी लाद कर ले गए ।’ मैने पूछा—‘भाई यह मूरा क्या है ?’ वह घबड़ाहट मे बोला—‘वही जो हुजूर खाते है, सफेद लम्बा, दुम मे भाडू बँधा हुआ ।’ भावो की भडभडी मे शब्दो की अड़बड़ी होना स्वाभाविक था । लेकिन इस गड़बड़ी मे मै अपने को न सम्हाल सका और भीड़ के साथ बह गया ।

मण्डी पहुँचकर देखा कि सैकड़ो की भीड़ धक्कमपेल मचाए है महज एक कुँजडिन की दूकान तक पहुँचने के लिए । ठेलमठेल मे मै भी मजिले-मकसूद तक जा पहुँचा । देखता क्या हूँ कि हाथ-हाथ भर की लम्बी-मोटी मूलियो को सब आँखे फाड-फाड कर निहार रहे है । जहाँ भीड़ वहाँ पुलिस । दो खाकी वर्दी वालो ने सब को मार भगाया । किन्तु इस

भगदड़ में मेरे एक चप्पल का पैर से ऐसा वियोग हुआ कि फिर कभी सयोग न खा सका। खैर पौने चार रुपये का दण्ड देकर यह तो मालूम हुआ कि मूरा 'मूली के पति' को कहते हैं।

ऐसी होती है अफवाह बिन सिर पैर की। उड़ती चली जाती है बेरोक-टोक और उड़ते-उड़ते हवा भरकर फैलती भी रहती है। जरा-सी खबर, छोटा-सा किस्सा एक आदमी से कहिए और उसे एक-एक करके एक दर्जन आदमियों के मुँह से गुजरने दीजिए। तेरहवें आदमी की बताई खबर या किस्सा नितान्त विकृत और पूर्ण परिवर्तित-सा जान पड़ेगा। अफवाह का यही गुण है एक मुँह से दूसरे मुँह का कौर बनने में अपना पेट खूब फुलाती है। यहाँ तक कि धीरे-धीरे राई का पर्वत बन जाता है। किन्तु इतना फूलकर कुप्पा कैसे होती है कि उसकी पहली शक्ल भी पहिचान में नहीं आती ?

बात यह है कि हर आदमी में एक नई तस्वीर एक नई प्रतिमा बनाने की कुरेदन होती है। वह अपनी कल्पना से पुरानी बातों को नया आकार-प्रकार देने में जुटा रहता है। नानी की कहानी सुनते-सुनते उसमें खुद किस्से सुनने-सुनाने का जोश उमड़ आता है। इन किस्सों के ताना-बाना अपनी कल्पना से जोड़ने में उसे मजा आता है। इस ताने-बाने का कच्चा माल वह अपने दिमागी गोदाम से निकालता है। दिमाग में जैसा कर्कट-भूसा भरा हुआ उसी से नया माल ढलता है, अफवाह के भवन का निर्माण होता है। सचेतन मन तो रहता ही है उसके अलावा अचेतन मन की कन्दराओं में न जाने कौन-कौन से अमूल्य रत्न, पैनी प्रेरणाएँ और भडकीले रंग भरे पड़े रहते हैं जो अफवाह को इन्द्र धनुष-सा आकर्षक बना देते हैं।

न जाने क्यों यह अफवाह की चक्की निरन्तर सत्य को अनेकानेक असत्यों में पीसकर विभुक्षित मस्तिष्कों के लिए नए-नए अपवाद, शकाएँ और कलंक बिखेरती रहती है। शायद ऐसे ईजादों से मनुष्य की बहुत-सी आकाशाओं, आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति होती रहती है,

जिनके अभाव में उसका जीना दुश्वार बन सकता है। अफवाहे बनाने में या फैलाने में मनुष्य मन बड़ी आनन्दमयी गुदगुदी अनुभव करता है। उसे यह जानकर परम सन्तोष होता है कि इस दुनिया में वह भी कुछ पैदा कर सकता है, वह भी किसी कदर महारव का आदमी है। लोग जब मुँह बाएँ, भोचक्के होकर उसकी दास्ता सुनते हैं तो वह अपनी पीठ अपने ही हाथ थपथपाकर अपनी गिनती पाँच सवारों में करता है। बाहरे मिट्टी के शेर, तेरी करतूतों का कायल है जमाना! कायल इतना कि उसकी झूठी जूठन चाटने से लोगों का मानसिक मनोरंजन होता है और उसकी फैक्टरी से निकली हर नाकिस चीज से लिए लोगों की जीभ लपलपाया करती है।

अफवाहों में शामिल होने वालों को चाहे वे उनके जनक हों, प्रसारक हो या श्रोता हों एक अजीबोगरीब सुख और सन्तुष्टि मिलती है। उन्हें लोगों की टोपी, हैट, पगड़ी उछालने का मौका हाथ लगता है; उन नियमों, परम्पराओं और मूल्यों को लतियाने का अवसर मिलता है जो उन्हें फूटी आँखों नहीं सुहाते। अफवाह उड़ाकर वे अपनी व्यग्रता, नैराश्य और पराजय की दबी भावनाओं को उड़नछू करते जान पड़ते हैं। जिससे हम घृणा करते हैं, शत्रुता रखते हैं उसे बाहुबल से परास्त करने को पुलिस-अदालत बर्बरता ठहराती है। उनसे बचने के लिए हमने एक बड़ा सभ्य तरीका जन-प्रवाद का निकाल लिया है। लाठी-डण्डे को कोने में टिकाकर वाग्बाण चलाते हैं। पता ही नहीं चलता किधर से शाब्दिक वाण वर्षा हो रही है। हम अपनी गप्पी टकसाल में एक खोटा सिक्का उसके नाम का ढालकर चला देते हैं जो बजारू गप्प के बीच भद्दी आवाज करता हुआ हाथोहाथ बढ़ता रहता है। इस जन-प्रवाद को तो सिद्ध जनो ने एक कला का रूप दे रखा है जिसके तौर-तरीकों की प्रदर्शनी जहाँ-तहाँ देखने को मिलती है।

कहा जाता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का आरोपण अफवाह में होता है। हम जैसे कुछ बुरे बदतर हैं वैसी ही अफवाह छोड़ते हैं। हमें

वही किस्से कहानी पसन्द आते हैं जो हमारे विचारों और इच्छाओं के प्रवाह में बहे । जो कुछ हम देखते या सुनते हैं उसे अपनी रगीन दुर्बल से मनचाहा रजित कर लेते हैं । ठीक भी है नए विचार को समझने की खट-खट कौन करे ? अपने जमे विचारों की कब्र क्यों खोदी जाए । जो कुछ भी आए उसे पुराने से घटाटोप कर लिया जाए, उसी में जमा-बिठा लिया जाए तो सरपच्ची बचेगी । अतएव जैसी कुछ बात है उसे हम वैसा नहीं देख-सकते, देखते हैं जैसा हम चाहते हैं । इसलिए अफवाह आँधी पर चढ़कर चलती है और सत्य मन्द बयार पर सवार लँगड़ाता पीछे पड़ा रहता है ।

मनुष्य की आवश्यकताएँ इन मन-गड़न्तियों और किवदन्तियों को कैसे जन्म देती हैं वह भी देखिए । राशनिंग के जमाने में कितनी बार गप्प उड़ी कि सरकार राशनिंग बन्द कर रही है, कपड़े के अभाव के दिनों में प्रायः सुनने में आता था कि फलों दुकान पर मनो कपड़ा आ गया है । मनचाहा लो, निवास स्थान की कमी में उड़ती हुई खबर आती है कि सरकारी कम किराए के मकान की योजना कार्यान्वित हो रही है । 'अब जइहे दुख-सागर पारा' की आशा इन मन-गड़न्तियों में विश्वास करने के लिए बाध्य करती है और फिर मन के लड्डू खाकर पेट भर जाता है ।

भय का भूत इन बजारू खबरों पर ताण्डवी नृत्य रचता है । हमारी बहुत-सी दन्तकथाएँ और अन्ध-विश्वास इन्हीं भयजनित अफवाहों पर बने हैं । लड़ाई और दगों में भय के कारण अफवाही फैकट्री दिन रात चला करती है । यहाँ हमला हुआ, वहाँ प्रत्याशित है, यह मरा, वह कटा की अनेकानेक गप्प उड़ा करती है । सब ऐसी अफवाहे बहती है जो सुदूर घटित घटनाओं की होती है । अफवाहबाज चतुर होते हैं न । अगर निकट की खबर हो तो उसका खण्डन-मण्डन शीघ्र कर मार्ग अवरोध हो सकता है । यह अफवाहे जो न करा दे वह थोड़ा है । इसीलिए युद्ध में इनके खण्डन करने या उल्टी अफवाह उड़ाने का एक विभाग

ही होता है जो अफवाहो से भिड़ता और उन्हें समाप्त करता है। गत महायुद्ध में जर्मनी के सब से बड़े गप्प-प्रसारक गोबेल्स का नाम आज दिन लोगो को नहीं भूलता।

गप्पो की एक और जननी जिज्ञासा है। उसकी सन्तुष्टि के लिए हम अज्ञात वस्तुओं, स्थानों और व्यक्तियों के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। अज्ञात से डर लगता है, जी घबडाता है, अतएव उसके बारे में कुछ मनगढन्त कर लेने में वह ज्ञात एव परिचित-सा लगने लगता है जिससे जान में जान आती है। बिलकुल अज्ञात चीजों के बारे में कुछ अनाप-शनाप बकने में जानी-पहचानी-सी लगने लगती है। इससे भय भागकर सुरक्षा की भावना आती है।

गप्पो में गुप्पी-चुप्पी उनका महत्त्व बढ़ा देती है। गोपनीयता का पुट पाते ही अफवाह सशक्त हो जाती है। सिर से सारी सरकाए की ओर कोई नहीं देखता पर घूँघट वाली पर एक नजर डालने की ताक-भाँक में बहुत रहते हैं। गुप्पी करना जिज्ञासा को सबल बनाता है। इसीलिए, गुमशुम, आधीपदी, कानाफूँमी ढग से कहीं गई बात चमत्कार दिखाती है। दो-चार शब्दों के ढाँचे पर कल्पना करने का अच्छा मौका रहता है, भव्य भवन निर्माण करने का श्रेय अपने हाथों लगता है। इसलिए खुले खजाने कहीं बात का आकर्षण कम होता है किन्तु गुप्त गोपनीय बात के लिए सब के कान खड़े रहते हैं। वह भी ऐसे कि यदि कोई कह दे कि कउआ कान ले गया तो फिर कउए के पीछे बेतहाशा भागेगे अपना कान पकड़कर नहीं देखेंगे। इसीलिए अफवाही दिग्गज गप्पो को गुप-चुप की गुप्त थैली में डालकर चालू कर देते हैं। यदि किसी बात को खूब फैलाना हो तो उसे इने-गिने शब्दों में डालकर यह कह दीजिए 'देखो भाई, किसी से कहना नहीं, तुम्हें गंगा कसम, अपने तक ही रखना।' तब फिर वह बात नहीं रुकेगी। गंगा कसम खिलाई है अतएव गंगोत्री से बगाल की खाड़ी तक अवश्य प्रवाहित होगी। यदि उसे और अधिक फैलाना हो तो किसी स्त्री से कह दीजिए वह बड़े लाड-

प्यार से उसका पालन-पोषण-वर्द्धन करेगी। जहाँ उसने कहा 'अरे बहन तुमने सुना' तहाँ बात अपनी लम्बी यात्रा पर चल पड़ेगी और फिर किन-किन स्टेशनों से होकर जाएगी आप अनुमान नहीं कर सकते।

अफवाह के साथ यदि कही बड़े ऊँचे आदमी का नाम जुड़ जाए तो उसके चार चाँद लग जाते हैं। बड़ा नाम बड़ा जादू बनकर बोलता है। कितनी ही अडियल फोर्ड कार हो बी० आई० पी० का झण्डा लगते ही वह खुले बन्द द्वारों से धकती चली जाती है। उसे रोकने की, उस पर सन्देहात्मक दृष्टिपात करने की जरूरत नहीं क्योंकि उसमें कोई महानुभाव विराजमान है।

केवल हम और आप इन अफवाहों के चक्कर में पड़ते हो सो बात नहीं। बड़ी-बड़ी व्यवस्थित सस्थाएँ भी इस अस्तव्यस्तता में योगदान देती हैं। औद्योगिक और व्यापारिक सस्थान अपने माल को आकाश में चढ़ाने और दूसरे की सामग्री को गर्त में गिराने की कोशिश में अफवाहों का बाजार गर्म करते हैं। दिवालिया होने की सम्भावना का प्रसार कर बड़े-बड़े फर्मों का व्यापार ठप्प किया जाता है। मजदूरों की हड़ताल खत्म कराने के लिए अफवाहों के जरिए उनका नैतिक स्तर गिराने के प्रयत्न होते हैं। राजनैतिक दल भी अपना उल्लू सीधा करने के लिए इन्हीं अफवाहों का आश्रय लेते हैं। भोले-भाले ग्रामीणों और धक्कम-मक्का वाली भीड़ों में एक सुरसुरिया छोड़कर कैसे खलिहान काटते, कैसी होली तापते हैं।

इन्हे छोड़िए जो स्वारथ लागि करहि सब रीती और निस्वार्थ सेवा का दम भरने वाली सस्थाओं को लीजिए। प्रेस और रेडियो भी अफवाहों से अछूते नहीं रहते। आदमी की कमजोरियों का फायदा उठाकर सनसनीखेज समाचार फैलाते हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि दुविधा के गर्भ में अफवाह पनपती है। अतएव किसी घटना की सीधी स्पष्ट खबर न देकर दुविधा में लपेट देते हैं और लोगों को ख्याली पुलाव पकाने का अवसर देते हैं। 'जाकी रही भावना जैसी तिन प्रभु मूरति देखी

तैसी' की लोकोक्ति चरितार्थ होती है। जनता की रुचि के परिमाण में दुविधात्मक मिश्रण डालने से अफवाहों की फसल अच्छी आती है।

लडाई और अपराधों से होने वाली दुर्घटनाओं के बाद तीसरा नम्बर अफवाहों के दुष्कृत्यों का आता है। वे लोगो के मधुर सम्बन्धों को खट्टा-सीठा-कड़वा बना देती है, शान्तिमय जीवन में अशान्ति बिखेर देती है, सारा मजा किरकिराकर देती है। यदि लोग अपनी जबान पर लगाम रखे तो इस दुनिया की आधी आफतें वास्ता हो जाएँ, गणतन्त्र को जनश्रुति से खतरा न रहे। प्रायः अफवाहों में असगति रहती है। ठीक वैसी जैसी एक रिकार्डों गाने में कि 'भैस चढ़ी बबूल पर, गपगप गूलर खाए, काँटा लगा आँख में, सरकारे दौड़ी जाए।' किन्तु उनकी असगति भैस बराबर मोटी-काली नहीं होती, कभी-कभी बड़ी सूक्ष्म होती है। यदि हम उस सूक्ष्मता का उद्घाटन करना सीख ले तो बड़ा सकटमोचन हो, जिन्दगी में नई बहार आवे, सभ्यता का नया उभार उठे।

आपका स्वरूप

मेरे एक मित्र है जिनसे इतनी घनिष्टता है कि वे, मेरी गोपनीय बातों का भी अदाज लगाने का दम भरते हैं। एक दिन उन्होंने कुछ मुस्कराते हुए पूछा, “क्या आप विनोदानन्द शर्मा को जानते हैं?” मैंने तुरन्त ही उत्तर दिया “इन सज्जन को तो मैंने कभी नहीं देखा”। यह सुनकर वे बहुत हँसे और फिर प्रश्न किया “कभी नहीं?” मैंने कहा “कभी नहीं और अफसोस है कि भविष्य में भी कभी नहीं देखूंगा।” “दर्पण में भी नहीं?” उन्होंने मजाक में सजीदगी घुसेड़ते हुए कहा।

फर्ज था कि बात पर डटा रहूँ ईमान के साथ। अतएव मैंने कहा “दर्पण में दिखाई देनेवाले सज्जन विनोदानन्द शर्मा नहीं हैं। वह तो कोई नकली सिक्का है। हो सकता है कि नकली सिक्का उत्तम हो किन्तु वह असली की बराबरी नहीं कर सकता। असली व्यक्ति तो मैं कभी न देख सकूंगा। हाँ उसके विभिन्न अंगों को भले ही देख लूँ—उसके हाथ, पैर, कान, अवश्य दिखाई देंगे। एक आँख बंद करने से उसकी नाक का भी आभास मिल जायगा। ऊपरी ओठ बढ़ाने से शायद मूँछे भी दिखाई दें। किन्तु उसका स्वरूप नहीं देख सकूंगा। वह छिपा ही रहेगा। उसके इस नकली स्वरूप को देखकर मैं यह नहीं बता सकता कि वह अन्य देखनेवालों पर कैसा प्रभाव डालता है।” कुछ हँकड़ और मित्र की ओर घूमकर मैंने कहा कि “मैं जानता हूँ कि आपका क्या स्वरूप है। आपको तो पूरा मैं एक नजर में देख सकता हूँ। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति के सम्पूर्ण स्वरूप को मैं देख सकता हूँ। किन्तु

जिस व्यक्ति को मैं सबसे अधिक देखना चाहता हूँ वह है मैं और मैं, मैं को नहीं देख सकता। कैसी विडम्बना है !

मजाक मजाक में बात गम्भीर हो गई। मैं नहीं बता सकता था कि मैं ठीक कह रहा था अथवा गलत। किन्तु इस विचित्र दुनिया की जैसी सभी बातों के पक्ष-विपक्ष में कुछ कहा जा सकता है उसी तरह मेरी ख्वाहमख्वाह की बहस के बारे में भी। बड़ी अजीबो-गरीब बात है कि हम अपने स्वयम् के लिए अजनबी बना दिए गए हैं; अपने स्वयम् को नहीं देख पाते क्योंकि सारी दुनिया को देखते हैं। हम अपनी पूरी आकृति से परिचित नहीं हो पाते, अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं समझ पाते। कहाँ तक कहा जाय हम अपनी आवाज को भी नहीं पहचानते। मुझे पता नहीं और आप भी बेवाक़िफ़ है कि हमारी आपकी बातचीत, हावभाव का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि हमें यही मालूम हो जाय तो फिर हम इतने बेवकूफ़—यह शब्द भी बेवाक़िफ़ से बना है—क्यों होते। अगर इतनी वाक़फ़ियत हो जाती तो फिर हम पर क्या बीतती यह कल्पना करने में दिल ख़ौफ़ खाता है। शायद अपना स्वयम् का रहस्योद्घाटन देखकर हम निर्जन वन में पनाह लेते।

श्री सुशील कुमार जी की कल्पना कीजिए जो अपने नाम के अनुसार अपने गुणों की कल्पना किए बैठे हैं—सुशील हैं और कुमार भी। एक भोज में किसी कुमारी के बगल में बैठे अपने को सुन्दर, आकर्षक, बातचीत में वशीकरण, हावभाव में मनहरण, भाषा में शीनकाफ़ दुस्त समझते हैं। किन्तु उस कुमारी की तटस्थता, उसकी अन्यमनस्कता, उसकी भावभ्रमिता से यदि कही उन्हें यह आभास हो जाय कि उनकी बातचीत गँवारू है, उनकी नाक फुलौरी है, उनकी भाषा बजारू है, उनके हावभाव घृणात्मक है, उनके कौमार्य में बुढ़भस की छाया है तो उनके ऊपर घड़ी पानी पड़ जायगा, पैरों के नीचे से धरती खसक जायगी, सुन्दर परिधान के नीचे छिपा शरीर पानी छोड़ने लगेगा। और वे सुशील कुमार जी से फिर नियाज हासिल करना न चाहेंगे। चुपचाप

दबे पाँव घर लौट रजाई ओढ़कर लेट रहेगे । सुशील कुमारजी, ऐसी भी क्या नाराजी ? घूँघट का पट खोल तोहि राम मिलेगे । आप तो एक लोक के एक कोने में ही रहते है यहाँ तीनों लोकों में चहलकदमी करने वाले नारद मुनि “मरकट बदन भयकर देही” लिए विश्वमोहिनी को आकर्षित करने के लिए ‘पुनि पुनि मुनि उसकहि अकुलाही’; किन्तु उनको अपनी असलियत का तब भी पता न चला जब ‘देखि दशा सब जन मुसकाही’ । खुदा का शुक्र कि आप अपनी असलियत इतनी जल्दी समझ गए ।

तसवीर के दो पहलू होते हैं । एक पहलू तो यह कि अपने को जान लेने पर हमें बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है और दूसरा पहलू यह कि इससे बड़ा लाभ भी होता है । यदि हम में कुछ ऐसी शक्ति होती कि हम अपने को वैसा ही देख पाते जैसा कि दूसरे हमें देखते है तो हमारी अनेकानेक त्रुटियों और बेवकूफियों का अन्त हो जाता । ऐसे आत्मशोध से कष्ट और लाभ दोनों ही होंगे । काश की आपको मालूम हो सके कि जिस ज्ञान पर आपको इतना अभिमान है वह भ्रज्ज्ञान है, जिस बुद्धि पर मुझे इतना घमट है वह सिर्फ मेरी खाम-ख्याली है, तो हम और आप दोनों ही भले आदमी बन सकते है । यदि एकाक्ष जी को मालूम हो जाय कि उनका काला चश्मा उनके रूप की भयकरता में वृद्धि करता है तो वे अपने को समदर्शी घोषित करने से न डरेंगे फिर चतुर चूणामणि की चतुराइयों और डींगूराय की डींगो से सभी को छुटकारा मिल जायगा और लोग उन पर सज्जन होने का आरोप करने लगेगे । यदि ऐसा अवैयक्तिक दृष्टिकोण हम अपने स्वयम् को परखने में ला सके तो दुनिया का खाका ही बदल जायगा ।

तब ‘खुदरा फजीहत और दीगरा नसीहत’ की लोकोक्ति चरितार्थ न होगी । धूम्रपान को हानिप्रद बतानेवाले मास्टर साहब कमरो के कोनों में बीडी-सिगरेट सुलगाते न दिखाई पड़ेगे । मद्यनिषेध सप्ताह के जुलूस के आगे चलनेवाले नेताजी फिर डाक्टर की सलाह पर शाम

को पैमाना नापते नजर न आयेगे । प्लेटफार्मों पर रहाने वाले गोरक्षक गायों को गोभक्षकों पर न वारेगे । साराश यह कि हमारी आपकी करनी और कथनी में अन्तर न रहेगा ।

व्यक्ति के तीन स्वरूप माने जा सकते हैं । मोहन और सोहन उदाहरण की चोटो के नीचे बहुत आते हैं अतएव उन्हीं को लीजिए । एक तो मोहन का स्वयम् का आदर्श स्वरूप अर्थात् मोहन जैसा कि वे अपने को स्वयम् जान पड़ते हैं; दूसरा सोहन की दृष्टि में मोहन का स्वरूप—जैसा मोहन को दूसरे लोग जानते हैं और तीसरा मोहन का वास्तविक स्वरूप—जैसा-कुछ विधि ने उनको गढ़ा है । इसी प्रकार सोहन स्वयम् के तीन स्वरूप हैं । मोहन का आदर्श मोहन, सोहन के आदर्श मोहन से भिन्न होता है और दोनों ही विधि के आदर्श मोहन से भिन्न हैं । अतः जब मोहन और सोहन में बातचीत होती है तब दो नहीं छ विभिन्न स्वरूपों की मुठभेड़ होती है, इसी से तो जल्दी कोई बात तय नहीं हो पाती, कोई काम नहीं हो पाता । एक दूसरे के खिलाफ कार्यवाही चला करती है । इतना ही नहीं मोहन स्वयम् के तीन स्वरूप में एक दूसरे से भिडा करते हैं । यदि मोहन को अपने तीनों स्वरूपों का ज्ञान हो सके तो उसकी बातों और कामों में विरोधाभास होने की सम्भावना कम हो जाय । यदि उसे मालूम हो कि सोहन के आदर्श मोहन का क्या स्वरूप है तो मोहन की बातचीत, कार्यकलाप सब दुरुस्त हो जायेंगे । दो व्यक्तियों का विरोधाभास निकल जायगा, दो के बीच शान्ति स्थापित हो जायगी । यदि कही यह दो व्यक्ति बुलगानिन और आईजनहावर हुए तो विश्वशान्ति निकट दिखाई देगी । आत्म-आलोचना की यह शक्ति उत्पन्न करना बहुत जरूरी जान पड़ता है ।

इस शक्ति का दूसरा नाम है अपने को अवैयक्तिक दृष्टिकोण से देखना । जिस प्रकार यदि हम कोई चित्र, कविता या लेख लिखे तो हम उसके दोष गुण नहीं बता सकते । 'निज कवित्त केहि लाग न नीका,' सरस होहि अथवा अति फीका ।' किन्तु यदि उसे हम कुछ दिनों के

लिए अलग डालकर भुला दे और फिर देखें तो उसके गुण-दोष उभर आते हैं। इसी प्रकार यदि हम अपने को भुलाकर अव्यक्त निष्पक्ष दृष्टिकोण से अपने को देख सकें तो हमारी भलाई के साथ-साथ समाज का भी कल्याण होगा। बड़े-बड़े अपने को अव्यक्त दृष्टि से नहीं देख पाते फिर छोटे किस गिनती में। इस दृष्टिकोण के न होने के कारण विख्यात अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ ने कितनी खुराफात लिख मारी, अपने राष्ट्रकवि की कविता और कवित्व में तलाक हो गई और हरिऔध ऐसे कवि-सम्राट् भी चुभते चौपदों में जा फँसे।

इसकवरी ऑफ इण्डिया के लिए भारत के बाहर जाकर भारत को देखना आवश्यक है। तभी तो उसकी चोटियाँ, टीले, कंगूरे, घाटी, नदी, नाले, यथास्थान अपने सच्चे स्वरूप में दृष्टिगोचर होंगे। उसके भीतर रह कर देखने से उसकी शस्यश्यामला भूमि, उसकी मनोरम घाटियाँ उसके उत्तुंग शृंग उसका अतीत गौरव हमारे दिल-दिमाग को कुछ ऐसा घटाटोप कर देते हैं कि अव्यक्तता नहीं रह जाती। इसी भाँति मनुष्य को स्वयम् अपने को देखने के लिए स्वयम् में लग्न कराने वाले, केन्द्र के बाहर जाकर निष्पक्ष दृष्टि से अपने को देखना चाहिए। तभी आपको अपने स्वरूप का सच्चा ज्ञान हो सकेगा जो आपके अज्ञान को दूर कर आप को एक भला मानुष बनाने में सहायक होगा।

नाम बदलने पर

इंग्लैंड में कुछ कम प्रसिद्ध एक लघु नाटककार हो गए हैं जिनका नाम शायद था विलियम शेक्सपियर। उनका कथन था कि नाम में क्या धरा है, गुलाब किसी भी नाम से कहीं मधुर गंध देगा। ऐसा हो सकता है किन्तु नाम बदलने पर वह गुलाब की सुगंध न होगी और चाहे जिसकी हो। गुलाब का नाम लेते ही जिस मधुर सुगंध का आभास होता है, जिस मुस्कराते महकते गुलाबी गुल की याद आ जाती है, वह उसके नए नाम से नहीं आएगी। बात यह है कि वस्तु के नाम से एक साहचर्य या एसोसिएशन बन जाता है, एक ऐसा योग हो जाता है जो नाम बदलने से विच्छिन्न हो जाता है। यह विच्छेद का भय ही नाम को महत्त्व देता है। जर्मन विद्वान् गेटे का कहना है कि मनुष्य का नाम किसी लबादे की तरह नहीं होता जो केवल उसके शरीर पर लदा या टगा रह सकता हो, जिसे हम आसानी से खींच-खरोच सकते हो। नाम तो मनुष्य का एक अभिन्न अंग है जो उसकी त्वचा की भाँति उसके साथ बढ़ता है। उसकी नौच-खरोंच करने में मनुष्य को आघात पहुँचे बिना नहीं रहता। अतएव नाम पर आघात व्यक्ति को स्वयं पर आघात समझना चाहिए।

अंग्रेजी लेखक स्टीवेन्सन के जीवन की एक घटना याद आती है। एक अमरीकी प्रकाशक ने उसकी पुस्तक छपी और उस पर स्टीफेन्सन लिख मारा। पुस्तक देखते ही स्टीवेन्सन खौल पड़े 'धत्तेरे की बदमाश, तूने मुझे ही बदल डाला, खूब पकड़ा चोर को, बेईमान को' इत्यादि अनेक प्रकार से पहले उसे कोसा और फिर अपना नाम ठीक कराकर

ही दम लिया। इसी प्रकार की एक घटना अपने प्रधान मन्त्री पं० नेहरू के साथ भी हो गई थी। नैनी जेल वालों ने उनका नाम जवाहिर लाल नेहरू लिखना आरम्भ कर दिया। सरकारी पत्रों में वही नाम आगे आने लगा। जहाँ पंडित जी ने 'ह' में 'इ' की मात्रा देखी कि उबल पड़े और तुरन्त एक लम्बा पत्र यू० पी० सरकार को लिखा जिसमें उन्होंने अपने नाम की हिज्जे बदलने का घोर विरोध करते हुए, सरकार से जोरदार माँग की कि सरकार और उसके कार-कुरिन्दा उनका नाम ठीक से लिखने की साधारण शिष्टता बर्ते। तुरन्त आर्डर जारी हुआ और छोटी इ की मात्रा मार गिराई गई।

एक विद्वत-मण्डली में सर प्रफुल्लचन्द्र राय को प्रस्तुत करते हुए उनके एक वैज्ञानिक शिष्य ने कहा 'बड़े हर्ष की बात है कि सर पी० सी० रे आज हमारे मध्य में है?' इतना सुनते ही बंगाली वैज्ञानिक गरज पड़ा। 'मेरे नाम का शुद्ध बंगला उच्चारण क्या है?' घबड़ाकर शिष्य ने उत्तर दिया 'सर पी० सी० राय।' आँखें चमकाते हुए अशुद्धोच्चारित डाक्टर ने कहा 'तब फिर मुझे एल्पा-रे बीटा-रे और एक्स-रे के साथ क्यों जोड़ते हो?' मैं वैज्ञानिक अवश्य हूँ किन्तु विज्ञान की कोई 'किरण नहीं।' सब कहकहा मारकर हँस पड़े और उस दिन से किसी को अशुद्ध उच्चारण करने का कोई साहस न होता था। अच्छा होता कि इस वैज्ञानिक अनुसंधान का अनुकरण अन्य बगवासी भी करते और चटर्जी, मटरजी, मुकरजी, टुकरजी के जटल काफिया में न पड़कर अपने पूर्वजों का नाम धरते, धराते नहीं।

इस प्रकार की असृजनात्मक तोड़-फोड़ और दुखद चोरियाँ हमारे नामों पर प्रतिदिन हुआ करती हैं किन्तु खेद है कि नसों में प्रवाहित हमारे पूर्वजों का खून खौलता नहीं। शुक्ल शुक्ल हो गए, टण्डन टनन बने और ऐसी ही बदहवासी यदि रही तो टैनर बन जाएँगे। सक्सेना सैक्सोना बने और सेक्सहायता बनने में लज्जा न खाएँगे। नायक से नायिक हुए और नायिका बनते देर न लगेगी। मिश्र से मिश्रा, गुप्त से

गुप्ता, श्रीवास्तव से श्रीवास्तवा बनकर हम लिंग परिवर्तन स्वीकार करते जाते हैं और चूँ नहीं करते। क्या इस परिवर्तन के प्रमाण में पाणिन की साक्षी आवश्यक होगी कि आकारात करने से शब्द स्त्रीलिंग हो जाता है। हमारे पुरखों ने किसी तरह अपनी इज्जत बचा ली थी किन्तु उनकी सन्तान उसे धोकर ही मानेगी। उपन्यासकार हेनरी फील्डिंग ने तो उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे की लोकोक्ति चरितार्थ की। वे अर्ल आफ डेनवाई के वशज थे किन्तु फील्डिंग के हिज्जे में उन्होंने आई और ई अक्षरों का स्थान परिवर्तित कर दिया था। लोगों के एतराज करने पर उन्होंने कहा हमारे पूर्वजों को शुद्ध हिज्जे करना नहीं आता था। अपने बारे में फील्डिंग की क्या राय है यह सुनकर उनके पुरखों ने अपनी-अपनी कब्र में केवल एक करवट बदली होगी। फील्डिंग साहब खुद जब आगे चलकर अपने आत्मजों की राय अपने बारे में सुनेंगे तो शायद कफन फाड़कर कब्र के बाहर कूद पड़े। क्योंकि वह तो किसी ने कहा है न

आज के लड़के तो नाँदा बाप को कहते हैं बस,

० इनके लड़के कल इन्हे कहते हैं क्या-क्या देखना।

अशुद्ध भाषा के होने से अनजाने अन्याय हो सकता है। नाम की गलत हिज्जे से प्रकारान्तर में यह अर्थ होता है कि जिस व्यक्ति के नाम की अशुद्ध वर्तनी की गई वह इतना तुच्छ एवं नगण्य व्यक्ति है कि कोई उसका शुद्ध नाम तक जानने की परवाह नहीं करता। या फिर आप उसको इतना निम्न कोटि का समझते हैं कि उसका शुद्ध नाम जानना आपकी शान के खिलाफ है। कभी-कभी गलत वर्तनी होने से जिसकी आप सहायता करना चाहते हैं उसका काम चौपट हो जाता है। मानिए कि आपको श्री अग्रवाल को एक प्रमाणपत्र देना है जिसमें उन्हें नौकरी मिल जाए। और आपने लिख मारा 'मै श्री अगरवाल को कई वर्षों से बखूबी जानता हूँ।' माना कि हिन्दी में र नीचे ऊपर बराबर घुसेड़ी जाती है किन्तु इसके स्थानान्तरण से आपका अग्रवाल से दूरत्व स्पष्ट हो

जाता है और फिर आप जो कुछ प्रमाणित करते हैं वह अप्रमाणित होता जाता है। ऐसे अवसरों पर गलत हिज्जे लिखने से व्यक्ति की सफलता का रहा-सहा मौका भी दूर भागता है।

यह तो हुआ जब दूसरे आपके नाम पर हमला बोलते हैं और उसे तोड़-मरोड़, ठोंक-पीट, अदल-बदल कर नया कलेवर दे देते हैं, और आप उसे मूर्ख की तरह स्वीकार कर लेते हैं। दूसरा नाम बदलना होता है जब ईजनाब खुद हमलावर होते हैं। माता-पिता प्यार में बच्चों के नाम कल्लू, मल्लू, सक्खो, बेबी रख देते हैं और बड़े होने पर आप उसे जोड़-घटा कर सुन्दर करना चाहते हैं। तब उसके साथ लाल, प्रसाद, देवी, देवता जोड़कर आप उसे और हास्यास्पद बना लेते हैं। कुछ सज्जनवृन्द तो माता-पिता के रखे नाम का सब पुराना साहचर्य धोकर नया नामकरण कर लेते हैं। गोसाईदत्त पत ने अपना नाम बदलकर सुमित्रानन्दन पत कर दिया। यह भी कोई छायावादी ढंग है जो आप हम नहीं समझ सकते। एक और है जो लिखावटी नाम रख लेते हैं और उसको चालू चाय की तरह सब में चलाते हैं। जैसे धनपतराय प्रेमचन्द बन गए और उस पर चार चाँद ऐसे लगा दिए कि पुराना नाम ही लुप्त हो गया। एक आफतजदा नामधारी होते हैं। उनका नाम ऊट-पटाँग होने पर भी चलने दिया जाता है किन्तु जब वे किसी बड़े औहदे पर पहुँचते हैं तो अपने नाम से लज्जित होते हैं। डालूलाल वर्मा को ही लीजिए। सभी डिगरियो और उपाधियो में यही नाम सुशोभित हुआ, अगर अब बदले तो कैसे बदले। अतएव वे इनीशियल्स से ही काम चलाते हैं। किन्तु नागरी में डा० ला० और डालू में बहुत अन्तर नहीं, अतएव डी० एल० की अग्रेजियत में अपने नाम की खीझ छिपाए रखते हैं। कतिपय महाशय अपनी जातियाँ, वर्ण छिपाने की धुन में विलायती कुत्ते की तरह नाम की दुम काट देते हैं, अथवा गोत्र, अकबरी खिताब या तिलस्माती अल्ल का प्रयोग करते हैं गोयल, शाडिल्य, भरद्वाज, अटल, हजारी, विजय-वर्गीय इत्यादि इसके अनेक उदाहरण हैं। किन्तु जिन खोजा तिन पाइयाँ

गहरे पानी पैठ और फिर रगे सियार बने घूमा कीजिए पीछे से लोग हँसी करते हैं ।

आश्चर्य यह है कि लोगों के नाम पर इतने उदण्ड उत्पात, विकट इनकिलाब तथा असह्य आक्रमण हुआ करते हैं और फिर भी उनके जूँ नहीं रेगती । पंडित नेहरू और डाक्टर राय के अनुकरणीय उदाहरण हमारे सम्मुख हैं जिनने अपने नाम की सत्त रक्षा की और इसी से उनका नाम अमर हो सका । जब लोग हमारे नाम के साथ खेल करें, उसे उल्टा-सीधा धरें, तोड़-मरोड़ दे तो क्रोध आना स्वाभाविक है । नाम से ही तो हमारा निजत्व है यदि उसी में गड़बड़ हुई तो निजत्व गायब हो जाएगा । निजत्व का निधन ही हमारे क्रोध का कारण बनता है । बात यह है कि हम हमही रहना चाहते हैं कोई अन्य नहीं बन जाना चाहते । हमारे लिए यह क्षण मात्र भी सह्य नहीं कि हम अपने पूर्वजों से नाता तोड़ दें, अपने माता-पिता की सन्तान होने से इन्कार कर दें और जिनका रक्त हमारी धमनियों में प्रवाहित हो उन्हीं को तलाक दे दें । अपने पुरखों की सन्तान होने में हमें गौरव मानना चाहिए, स्वाभिमान आना चाहिए । वास्तव में हमारा अस्तित्व नाम और रूप के कारण ही माना जाता है । नाम और रूप के अभाव में नामोनिशान तक नहीं रहता । नाम बदलने से अथवा रूप का रूपान्तर करने से वस्तु या व्यक्ति विकृत हो जाता है । नाम कोई आकस्मिक वस्तु नहीं होती । जिस प्रकार मनुष्य के जन्म के पीछे अगणित संस्कार रहते हैं इसी प्रकार नाम के पीछे भी । नाम तो सैकड़ों हजारों आदमी लेते हैं उन सब का सकल्प नाम के साथ जुड़ता है । उन संस्कारों और सकल्पों को क्षण भर में तिलाजलि दे देना ठीक नहीं । आपने ज्योतिषियों को देखा होगा कि केवल आपके नाम के आधार पर ही भूत, भविष्य, वर्त्तमान की सब घटनाएँ गिनाने लगते हैं । अतः नाम का आप से निकटतम सम्बन्ध है, वह आपका एक अंग ही है, वह इतनी साधारण वस्तु नहीं जो आसानी से बदली जा सके । प्रत्येक व्यक्ति को अपने

नाम पर गौरव करना चाहिए, आपत्ति तथा कठिनाई में उसका साथ देना चाहिए। कभी भी नाम न धरना या धराना चाहिए। माता-पिता ने जो नाम दिया वह चाहे जितना अच्छा या खराब हो उसी पर डटे रहना चाहिए।

किन्तु प्रत्येक नियम का अपवाद भी होता है। अपवाद साधु सन्त सन्यासी के नामों में आता है। दीक्षा लेने अथवा सन्यास ग्रहण करने पर वे अपना पहला नाम बदलकर नया ब्रह्मानन्द, भास्करानन्द, हरिहरानन्द, विनयानन्द, खटपटानन्द, इत्यादानन्द रख लेते हैं। वे इस सासारिक जीवन को समाप्त कर एक नया जीवन आरम्भ करते हैं, बाल-नाखून काट डालते हैं, वस्त्र उतार डालते हैं, घर-द्वार छोड़ दण्ड कमण्डल ले उसी आनन्द की खोज में घूमते हैं। इसीलिए नाम बदलना उनके इस चोला बदलने की पूर्णाहुति कहलाती है। नाम में ऐसा परिवर्तन सनातन से मान्य है।

इस अपवाद का एक बच्चा और है। जहाँ कोई फर्जी नाम रख ले जिसका साहचर्य बहुत कम बढ पाया हो उसे बदल देने में कोई आपत्ति नहीं होती। हास्यानन्द जी का विनोदानन्द शर्मा में परिवर्तन इसी अपवाद के बच्चे के अन्तर्गत आता है।

जो है सो

मानिए न मानिए 'जो है सो' एक महाशय का नाम था। वे निरक्षर भट्टाचार्य थे, उनके लिए काला अक्षर भैस बराबर था। चिट्ठी-पत्री किसी से लिखा-पिठा लेते थे। उसमें उन्हें लज्जा न आती थी। लज्जा की बात ही क्या थी? बड़े आदमी भी तो कभी कुछ लिखते-पढ़ते नहीं। उनके मुनीम-मुहर्निर ही सब काम करते हैं। हाथ-पैर जोड़ने पर इनके भी मुनीम-मुहर्निर बन जाते थे जो लिखने का काम कर देते थे। एक बार उन्होंने पत्र लिखाया। लिखनेवाला समझदार था, जो है सो महाशय जो बोलते थे उसका आशय निकालकर लिख देता था। आखिरकार तीन पैसे के कार्ड में दुनिया भर की खुराफात लिखकर तो भेजी नहीं जा सकती। फिर व्यर्थ में स्याही की बरबादी होती है, पढ़ने वाले का वक्त जाया होता है और लिखने वाले का पसीना फोफट में सूखता है। इसी से तो पुराने वक्त का सूत्र अच्छा था कि जो जरूरी बात हुई संक्षेप में लिख दी और फिर सूत्र दे दिया 'थोड़ा लिखा बहुत समझना।' जो है सो महाशय बहुत बोले थे किन्तु लिखा थोड़ा गया था। इसलिए पत्र समाप्त होने पर जब पढ़कर सुनाया गया तो वे असन्तोष बताते हुए बोले, इसमें जो है सो तो लिखा ही नहीं। उसे बीच-बीच में दो-चार जगह टीप दीजिए। लिपिक पहले तो समझ न पाया कि जो है सो क्या बला है किन्तु महाशय की बातचीत का खयाल आते ही वह समझ गया कि 'जो है सो' महाशय को अतिप्रिय है और पत्र में उसकी कमी उन्हें खटकती है। अतः उसने जो है सो पत्र में चार जगह लिख दिया और इस तरह उनके पत्र को चार चाँद लगा दिए।

जो है सो के तीन अक्षरों के होने-न-होने की बात नहीं, बात है

मनुष्य के व्यक्तित्व की। यदि पत्र में चार जगह यह तीन अक्षर न लिखे जाते तो पत्र किसी दूसरे का लिखा और तीसरे का लिखवाया जान पड़ता। उसका उक्त महाशय से साहचर्य जोड़ने में कठिनाई होती। वह किसी प्रेस रिपोर्टर की रिपोर्ट-सा अव्यक्तिक बन जाता। बात-बात में जो है सो कहने के कारण इन तीन अक्षरों और उनके व्यक्तित्व में बड़ी घनिष्ठता हो गई थी, एक खास ताल्लुक हो गया था या यो कहिए उनके व्यक्तित्व का एक अंग बन गया था। साढ़े तीन फुट के व्यक्ति के साक्षात्कार के अभाव में तीन अक्षरों का यह शब्द उनका खासा हवाला देता था, पत्र में उनके व्यक्तित्व की छाप लगा देता था। पत्र पढ़ने वाले को यकीन हो जाता कि यह महाशय जी का लिखा या लिखवाया है। तनिक पैनी कल्पना वाला महाशय जी को जो है सो की भाषा बोलते चित्राकित भी कर सकता था।

व्यक्तित्व की यही विशेषता है कि जहाँ उसमें बाँकापन आया, नुकीला या टेढ़ा हुआ कि नोक और टेढ़ापन साफ भलकने लगते हैं। सभी की दृष्टि उस नोक या वक्रता पर अनायास जाती है। आदमी तिकोना हो जाता है, किसी चीज की कमी महसूस होने लगती है, उसके सभी तरफ कोने या नोक दिखाई देने लगती है जिन पर सभी की नजरे अटकती है। यदि यह अटक हो सटक जावे तो व्यक्तित्व भटक जाता है, आदमी भीड़ में गायब हो जाता है, उसके व्यक्तित्व की विशेषता नहीं रहती। महाशय को जो है सो ने तिकोना बना दिया वरना वह भी आदमी चौकोर थे।

जब किसी ऐसे शब्द, वाक्यांश अथवा क्रिया से किसी की विशेष घनिष्ठता हो जाती है कि वह उसे कसरत से प्रयोग करता है तो उसे अंग्रेजी में मैनरिज्म कहते हैं, उर्दू में तकिया-कलाम, किन्तु हिन्दी के शब्दवीर खामोश है। अंग्रेजी के मैनरिज्म का अर्थ व्यापक है। उसमें शब्द, क्रियाएँ, हाव-भाव सभी आ जाते हैं, तकिया-कलाम सिर्फ कलाम में ही तकिया लगाता है। जिस तरह आराम के लिए तकिया लगाई

जाती है वैसे ही कलाम में आराम के लिए तकिया लगाते हैं। हिन्दी में टेक शब्द का प्रयोग होता है। गीत-संगीत में बार-बार दोहराए जाने वाला पद टेक कहलाता है। किन्तु वह टेक प्रभाव को बढ़ाती है और यह टेक प्रभाव को घटाती है। टेक से तात्पर्य आराम या सहारा से है। रामचन्द्र जी जब चलते-चलते थक गए थे तो उन्होंने राम टेक में विश्राम किया। इसी प्रकार अभिव्यक्ति में थक जाने पर जीभ किसी शब्द विशेष की टेक लेती है। इस टेक के अवलम्ब से आगे बढ़ती है। जिह्व के अर्थ में टेक का भावार्थ इस प्रसंग में जमता जान पड़ता है।

वास्तव में जीभ तो नहीं थकती मस्तिष्क कुछ अड़ता है। विचारों की तारतम्यता टूटती सी जान पड़ती है तभी लोग टेक की थूनी या खम्भा लगाकर उसे टूटकर गिरने से बचा लेते हैं। विचार शून्यता को भरने के लिए हम अपने चिरपरिचित, बहुचर्चित, किंचित गर्भित शब्द का प्रयोग कर देते हैं। उस प्रसंग में उसका कोई अर्थ होता हो सो बात नहीं। अर्थ केवल इतना ही कि व्यर्थ शून्यता न जान पड़े। शून्यता से लोग घबड़ाते हैं जैसे वह उनके अस्तित्व का अन्त बताती हो। अथवा बातचीत का डोरा कोई दूसरा न थाम ले इसलिये अनाप-शनाप भौंके रहना आवश्यक हो। समझे, समझे कि नहीं, ध्यान में आया, खयाल शरीफ में आया, गोया कि, किस्सा कोता, हाँ-हाँ, हूँ-हूँ, अच्छा-अच्छा, इत्यादि अनेक निर्दोष शब्द सदोष भाषा बनाने में प्रयुक्त होते हैं। आजकल की पड़ी-लिखी लडकियाँ देखिए, देखिए साहब, देखिएना, कह कर ध्यान आकर्षित करती हैं। उन्हें कौन समझाए कि रग-बिरगी साड़ी फिराक ही मनुष्य का ध्यान आकर्षित करने में पर्याप्त है, उन्हें बोलने की जरूरत नहीं फिर भी हठ करती हैं देखिएना। देखे क्या? न सूरत न शकल, भाड में से निकल।

एक सज्जन हैं जिनकी हर बात आपकी कृपा से होती है। एक बार वे सख्त बीमार पड़ गए। अच्छे होने पर उनके परिचित एक व्यक्ति ने हमदर्दी दिखाने के लिए कहा आप को बड़ी तकलीफ मिली। वे बोले—

‘हाँ आपकी कृपा से बहुत बीमार हो गया था।’ परिचित व्यक्ति भावावेश में बोला—‘मेरी क्या कृपा ? आपके दुश्मनों की कृपा। क्या मैं आप का दुश्मन हूँ।’ ‘नहीं, नहीं, आपकी कृपा से जल्दी ही अच्छा हो गया।’ दोनों ओर अपनी कृपा देखकर वे चुप हो गए। तुम्हारी बला से भी ऐसा ही तकिया कलाम है जिसका प्रयोग अनेकशः अर्थानर्थ करता रहता है। एक-दूसरे सज्जन हैं जो बात-बात में कहते हैं जाकर वहाँ देखो। आरम्भ में आप परेशान हो जाएँगे कि कहाँ जाकर क्या देखे किन्तु थोड़ी ही देर में आप समझ लेंगे कि वे अगम्य दुर्गम्य सभी जगह जाने को कहते हैं और उचित-अनुचित सभी के देखने को बताते हैं। तीसरे सज्जन तो भयानक हैं जो हर बात के आरम्भ-अन्त में सम्पुट करते हैं ‘है कि नहीं साहब ? नहीं तो क्या साहब ?’ पहले प्रश्न में अपने कथन की स्वीकारोक्ति चाहते हैं। साहब ने दे दी तो भली भला, नहीं तो दूसरे प्रश्न में चैलेन्ज है। यदि हाँ नहीं है तो फिर साहब बताएँ कि क्या ठीक है। लेकिन बताएँ भी तो बातूनी दगल के नगाड़े बज उठें। साहब का हैट-टार्ड सब मिट्टी में मिल जाए। बताइए उनकी चुनौती को स्वीकार करने की किसकी हिम्मत, किस को फुरसत, किसने खुण्डी भैस का घी-दूध पिया है। एक पंडित जी थे वे ‘का नाम के बीच में’ की रामधुन लगाते थे। छोटे बच्चे उन्हें खूब पहचान गए थे, अतः देखते ही उनका भजन आरम्भ कर देते थे।

का नाम के बीच में, तेल लगावे घीच में।

पंडित पड़े कीच में, सब लगे खीचने।

का नाम के बीच में, का नाम के बीच में।

इन तकिया कलामों की छटा स्कूली मास्टर्स में खूब देखने को मिलती है। उनका बातों का व्यापार ठहरा ना। ‘यू सी, यू सी’ किया करते हैं, कभी कुछ दिखाते नहीं सदा मानसिक चित्र खींचा करते हैं। समझे-समझे बात-बात में पूछेंगे। समझे क्या खाक जब आप कुछ ठीक से समझाते नहीं ? हर बात को ‘याद रखो’ से जोड़ देते हैं। क्या

लडकों का दिमाग कोई कबाडखाना ठहरा जिसमे सब अच्छी-बुरी चीजे भरी रहे। मार घलेगी, सुनते-सुनते लडके कहने लगते हैं कि घलेगी तो घलने दो हम अपनी मनमानी करेगे। 'ठीक है कि नहीं ?' मास्टर साहब बच्चो से बार-बार पूछते है किन्तु यह नहीं समझते कि यदि बच्चे यही बताने के योग्य होते तो उनके पास सदिग्ध ज्ञान लेने क्यों आते। पहा, पहा, पहा की रटत लगाई जाती है जब लडके दीदा फाड़े आप के मुख की ओर हेरते रहते है। आसुन, आसुन सुनते-सुनते कान सन्न हो जाते है और फिर जो आप सुनाना चाहते है उसे सुनने की शक्ति नहीं रहती। शिक्षक तो मनोविज्ञानी होता है व्यर्थ में अण्डरस्टेण्ड, समझे, लक्षात आले काय ? क्यों पूछता है उसे तो सब कुछ जान लेना चाहिए क्याफा देखकर।

कुछ लोग बात-बात मे कसम खाते है, कोसते है, गाली-गलौज करते है। खुदा कसम, रामधे, गगाकिरिया, बाईगाड, उनके शब्द भण्डार के प्रमुख तीर रहते है। प्राय देखा गया है कि नीच कौम के लोग ही ज्यादा कसम खाते है; कसम न खाएँ तो क्या खाएँ ? बेचारो को अन्न तो मिलता नहीं। यही हाल ब्रिटिश टामी का है जो बिना कसम बात नहीं करता, बिना कोसे जबान नहीं खोलता। यह टामियत हमारे यहाँ भी कही-कही घुस पडी है। कसम खाने का प्रयोजन प्रायः बात पर जोर देना होता है। किन्तु यदि हर बात जोरदार हो जाए तब साधारण बात तो कभी होगी ही नहीं। यह तो वातलाप की सीमा उल्लघन करना हुआ; पत्र की सभी पक्तियों को रेखांकित करना हुआ। यह संगीत के उस स्वर की भाँति है जो सुरीलेपन को भग कर प्रभाव को बढा देता है। यदि सभी ध्वनियाँ लुप्त हो जाएँ तो संगीत शोरगुल मे बदल जाता है। इसी प्रकार यदि वातलाप मे सभी स्थान पर गुरुत्व आ जाए तो वह बोझिल हो जाएगा, बात नीरस बन जाएगी। फिर यदि उसके ऊपर जोर देना जरूरी हुआ तो क्या करेगे ? गाली-गलौज सभी स्तर के

व्यक्तियों में चलता है किन्तु निम्न स्तर से ऊपर जाने में कम होता जाता है। ऊपरी स्तर के लोगो में पुलिस वाले इसका अपवाद है।

इन मौखिक टेको और तकिया कलामो के अतिरिक्त कुछ लोग ऐसी हरकतें, चेष्टाएँ, क्रियाएँ, स्थाव-भाव करते दिखाई देते हैं कि उनकी बारम्बारता के कारण बराबर लोगो का ध्यान उन पर जाता है। नाक में खूँ-खूँ शब्द करना मानो जमालगोटा पिए हों, गले से धीरे-धीरे खाँसते रहना गोया कि गले में कोई मुस्तकिल खराश हो गई हो, सिर हिलाना जैसे हाल आता हो, गर्दन की नसों को तानना, मुँह फाड़ना, पलक ज्यादा भाँजना, कंधे उचकाना, हाथ झटकना, पैर पटकना इत्यादि ऐसी ही हरकतें हैं। अगर सेहत में कोई खराबी है तो डाक्टर हकीम को दिखाना चाहिए नहीं तो बाद में भारी उलझन में पड़ जाना पड़ेगा। अन्यथा इन हरकतों की आदतें डालनी उचित नहीं। दुनिया की नजर उन पर अड़ेगी, लोग हँसेंगे, बच्चे नकल करेंगे। कुछ लोग अपने कपड़ों से ही उलझा करते हैं। बार-बार जेबों में हाथ घुसेड़ना, आस्तीन चढाना, कालर टाई पर हाथ फेरना, साड़ी को कोर सरकाना इत्यादि ऐसी अनावश्यक क्रियाएँ हैं जिनसे कोई लाभ नहीं होता किन्तु अपनी घबड़ाहट, परेशानी, नर्वसनेस व्यक्त हो जाती है।

ऐसी आदतों का दुष्परिणाम सर वाल्टर स्काट के विद्यार्थी-जीवन की एक घटना से स्पष्ट होता है। उनका एक सहपाठी बड़ी कुशाग्र बुद्धि का था, कक्षा में सदा प्रथम रहता था। स्काट सतत् प्रयत्न करने पर भी उसे पिछाड़ न सके। एक दिन स्काट ने देखा कि प्रश्न पूछा जाने पर वह अपनी वास्केट के निचले बटन को उभेठने लगता है। स्काट ने होशियारी से वह बटन काट दिया। दूसरे दिन प्रश्न पूछे जाने पर आदतन उसकी अँगुलियाँ बटन पर गई किन्तु बटन न पाने पर वह घबड़ाया, उसने मुड़कर देखा तो बटन गायब थी। उसकी परेशानी का पारावार न रहा। स्काट ने अवसर का लाभ उठाया और उस लड़के के स्थान को हड़प लिया। उस दिन से वह लड़का ऐसा हतोत्साह हुआ कि

दिन पर दिन गिरता ही गया। अन्त में वह शाला छोड़कर बैंक में नौकर हो गया और शराब के चक्कर में पड़कर बरबाद हो गया।

किस्सा कोताह यह कि इन बेहूदी आदतो के पड़ जाने से आदमी खोटा हो जाता है, खराब हो जाता है, जोकर बन जाता है, जीवन में असफलता बुला लेता है। यह आदते घर में आने वाली बिल्ली की तरह है। यदि पहले ही रोज डांट-डपट कर भगा दीजिए तो फिर नहीं आती। नहीं तो आना शुरू हो गया कि घर की दूध-मलाई सफाचट होती रहती है। इसी प्रकार इन आदतो को शुरूआत में ही रोकना चाहिए नहीं तो आपके अच्छे गुणों पर छा जाएंगी। आदते डालना आपत्तिजनक नहीं, आदमी प्रायः आदतो की गठरी कहलाता है। यदि उसकी आदते निकाल दी जाएं तो शेष कुछ न रह जाएगा, उसका व्यक्तित्व ही गायब हो जाएगा, उसके अस्तित्व के लाले पड़ने लगेंगे। किन्तु आदते खराब न हो हास्यास्पद न बन जाएं। फिजूल की आदतें जिनसे कुछ लाभ न हो, जिनका लोग व्यर्थ में मजाक बनावे, जिनकी वजह से आपको विचित्र समझे, सनक-सनन्दन बतलाएँ, ऐसी आदतो को डालना मूर्खता है। वे व्यक्तित्व को विकृत कर देती हैं, आदमी को तिकोना बना देती हैं, उसकी गम्भीर-से-गम्भीर क्रियाओं को हास्यप्रद कर देती हैं। आशा है कि आरम्भ में आए जो है सो महाशय अब समझ गए होंगे कि जो है सो तो है ही, उसकी बार-बार याद दिलाने में कोई लाभ नहीं, कोई रस नहीं, कोई तुक नहीं।

भारतेन्दु

काशीराज के दरबार में साहित्यिक, संगीतज्ञ, कवि तथा अन्य कलाकारों का बड़ा सम्मान होता था। उसमें प्रायः उपस्थित रहने वाले एक सम्पन्न कुल के तरुण कवि भी थे जिनके प्रति महाराज का विशेष स्नेह था। किंचित श्यामल वर्ण के एकहरे सुडौल शरीर वाले इस तरुण का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। ऊँचा ललाट, सुधड़ नासिका, छोटी धँसी हुई चमकीली आँखें, बड़े-बड़े कान जिन पर घुघराले बाल लटकते थे, उसका शारीरिक सौन्दर्य बढ़ाते थे। अद्भुत प्रकार की ऊँची चौगोसिया टोपी इनके रुचि-वैचित्र्य की द्योतक थी। विनम्र स्वभाव, मधुरवाणी एवं शिष्ट व्यवहार इनके व्यक्तित्व को और अधिक आकर्षण प्रदान करते थे। गुलाब अथवा केवड़ा जल-सिंचित पान की गिलौरी दबाए हँसमुख हो जब यह बोलते थे तो ऐसा जान पड़ता था कि मानो सुगंध और मधुरिमा का स्रोत मुखरित हो उठा हो। काशी नरेश इनकी विलक्षण प्रतिभा के कायल थे और यह उनके सौहार्द और सहानुभूति के कारण उन्हें पितृतुल्य मानते थे। किन्तु कवि बड़े खर्चीले स्वभाव के थे जिससे उनकी सम्पत्ति धीरे-धीरे खिसक रही थी। घर के शुभचिन्तकों ने काशी-नरेश तक खबर पहुँचाई यह सोचकर कि उनके कहने से सम्भवतः कुछ प्रभाव पड़े। एक दिन काशीराज ने कवि से कहा “बबुआ, घर देखकर काम करो”। बबुआ ने अपने बदन पर किंचित भी व्यग्रता का भाव न लाते हुए उत्तर दिया “हुजूर, इस धन ने मेरे पूर्वजों को खाय़ा है, अब मैं इसे खाऊँगा।” उनके उत्तर में

इतनी निश्चिन्तता, निर्भीकता, दृढता और निर्लिप्सा थी कि महाराज अवाक् रह गए ।

धनाढ्य कुल में उत्पन्न होकर धन से इतना विराग और विद्रोह प्रदर्शित करने वाले यह हिन्दी साहित्य के गगनागण के प्रकाश भारतेन्दु थे । इनके विरुद्ध शिकायत उस पैतृक सम्पत्ति को व्यय करने की थी जिसे यह परिचिन्ता निर्वाणार्थ, देश-समाज हितार्थ, धर्म-मातृभाषा समुन्नार्थ तथा आमोद-प्रेमोदार्थ मुक्त हस्त से लुटा रहे थे ।

प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की महत्त्वपूर्ण सहायता करने वाले बंगाल के विख्यात महाजन सेठ अमीचन्द के, जिन पर क्लाइव ने जालसाजी का अभियोग लगाया था, वंश की पांचवी पीढ़ी में आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवर्तक हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ था । इनके पिता गिरधर दास थे “जिन कवि रच्यौ ग्रंथ चालीस ।” एक बार जब इनके पिता कविता लिख रहे थे तो हरिश्चन्द्र ने भी कविता करने का आग्रह किया और निम्नांकित दोहा बनाया—

लै व्योडा ठाढे भमे श्री अनिरुद्ध सुजात ।

वाणासुर की सेन को हतन लगे भगवान ॥

अपने ग्रन्थ में इस दोहे को स्थान देते हुए इनके पिता ने कहा, “तू मेरा नाम बढायेगा ।” उनकी यह कामना और भी दृढ हुई जब उनके “कच्छप कथामृत” की इस पक्ति का कि “करन चहत जस चारू कछु कछुवा भगवान को” अर्थ बताते हुए बालक हरिश्चन्द्र ने कहा, “बाबू जी आप उस भगवान का यश वर्णन करना चाहते हैं जिसको आपने कछुक छुवा है अथवा जान लिया है ।” परन्तु जब पितृतर्पण करते समय पुत्र ने प्रश्न किया कि “बाबू जी, पानी में पानी डालने से क्या लाभ है ?” तो उन्होंने कहा “जान पडता है, तू कुल बोरगा ।” धर्मनिष्ठ पिता के आशीर्वाद और अभिशाप दोनों ही एक-एक अंश में यथा समय फलीभूत हुए ।

इन्हे बाल्यावस्था में संस्कृत, उर्दू, और अंग्रेजी की शिक्षा दी गई

किन्तु माता-पिता की जल्दी मृत्यु हो जाने के कारण इन्होंने स्वाध्याय एवं पर्यटन से बहुत कुछ सीखा । इन्हें भारतवर्ष की प्रायः सभी प्रमुख भाषाएँ आती थी । इन्होंने जगन्नाथपुरी, अयोध्या, जनकपुरी, वैद्यनाथ, कानपुर, हरिद्वार, मसूरी, लाहौर, अजमेर, मथुरा, दिल्ली, पुष्कर, उदयपुर, प्रयाग आदि अनेक स्थानों की सैर की, जहाँ अनेक मित्र बनाए और हिन्दी का प्रचार किया ।

पान खाने का इन्हें इतना शौक था कि हर समय इनका मह पान से भरा ही रहता था । उत्सवों की एक बैठक में पाँच-सात सौ पान चबा डालना उनके लिए कठिन न था । उनके पानों में गुलाब या केवड़ा-जल की इतनी भरमार रहती थी कि उनके निकट जाने वाले लोग कहते थे कि सुगंध का भभका खुला हुआ है ।

भारतेन्दु बड़े चंचल और विनोदप्रिय स्वभाव के थे । बात-बात में उनकी जिन्दादिली झलकती थी, मस्ती छलकती थी । वे शतरंज के अच्छे खिलाड़ी थे, संगीत के बड़े शौकीन थे, कई वाद्य स्वयं बजाते थे । कबूतर उड़ाने का इन्हें शौक था, ताश भी जमकर खेल लेते थे । ताशों के हुकुम, चिड़ी, पान, ईंट के स्थान पर उन्होंने शख, चक्र, गदा और पद्म नाम रखे थे । इसी प्रकार गुलाम, मेम, बादशाह के स्थान पर देवी-देवताओं के नाम निर्धारित किए थे । सुन्दर वस्तुओं के संग्रह करने में इन्हें बड़ी रुचि थी । चित्र, पुस्तक, अद्भुत पदार्थ, उत्तम वस्त्र, विचित्र खिलौने, पुरातत्व की वस्तु, एलबम आदि को किसी भी मूल्य पर प्राप्त करके संग्रह करते थे । इन्होंने छोटी-छोटी नोटबुक पर “हरिश्चन्द्र को न भूलिए” आदि प्रेमवाक्य छपवाकर, उन्हें मित्रों को वितरित कर दिया था । पत्र लिखने के लिए इन्होंने सात बारों के भिन्न-भिन्न रंग के कागज (पैड) छपवाए थे जिन पर विभिन्न सिद्धान्त वाक्य ऐसे मुद्रित करा दिए थे कि बिना बार का नाम लिखे ही पढ़नेवाला जान जाए कि अमुक बार को पत्र लिखा गया है । इन पर छपे हुए नाम-चित्र (मोनोग्राम) उनकी सजीवता एवं रुचिवैचित्र्य के परिचायक

हैं। उनके एक नामचिह्न में चार खम्भों के ऊपर बिल्वपत्र या त्रिशूल और बीच में अर्द्धचन्द्र के ऊपर श्री हरि लिखा था और चन्द्र के नीचे रोहणी नक्षत्र का बिन्दु बना था। तात्पर्य यह कि अंग्रेजी के अक्षर 'एच' में जो दो पाई आती है वह चौखम्भा और उस पर बिल्वपत्र या त्रिशूल काशी, उसके बीच की मिलानेवाली रेखा द्वीतीया के चन्द्र सी बनी थी, जिस पर इनके इष्ट देव 'श्री हरि' का नाम अंकित था। नक्षत्र फारसी के अक्षर 'हे' का द्योतक था। इस प्रकार तीन भाषाओं में इनके नाम हरिश्चन्द्र का स्पष्ट संकेत हो जाता था और साथ में पता भी दिया हुआ था। दूसरे नाम-चिह्न में वेणु और चन्द्रक श्री हरि का द्योतक और चन्द्र बना हुआ था। विभिन्न रंगों के वेफर भी थे जिन पर 'उत्तर शीघ्र', 'जरूरी', 'प्रेम' इत्यादि शब्द छपे हुए थे और आवश्यकतानुसार पत्रों तथा लिफाफों पर चिपका दिए जाते थे। उनका हस्तलेख बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक होता था और उसे बिना बिगाड़े वे पाँच-छः भाषाओं में बड़ी शीघ्रता से लिख लेते थे।

विनोदप्रियता इनकी बात-चीत, बन-ठन, गद्य-पद्य तथा क्रियाकलाप से सदा व्यक्त हुआ करती थी। किसी प्रकार की भी कठिनाई उनकी सजीवता और मस्ती को कम नहीं कर सकी। अधेरी गलियों की दीवारों पर वे फास्फोरस से ऐसे भयानक चित्र बना देते थे कि लोग देखकर डर जाते थे। श्री जगन्नाथ की बड़ी फूल टोपी के भीतर छिपकर उसे इन्होंने ऐसा स्वतःचालित होते दर्शाया की समस्त दर्शक-गण चकित स्तम्भित रह गए। किन्तु जब टोपी उलटकर यह निकले तब रहस्य खुलते ही बड़ा विनोद हुआ। पहली अप्रैल के फूलसडे पर तो हरिश्चन्द्र जी अवश्य ही कोई न कोई कौतुक रचते थे। एक बार आपने एक नोटिस निकलवाया कि महाराज विजयानगर की कोठी पर एक योरोपीय विद्वान् सूर्य और चन्द्रमा को पृथ्वी पर उतारेंगे। हजारों मनुष्य वहाँ एकत्र हुए किन्तु जब कुछ न देखा तो लज्जित होकर हँसते हुए अपने-अपने घर वापस गए। दूसरी बार प्रकाशित किया गया कि

एक विख्यात गायक हरिश्चन्द्र स्कूल में मुफ्त में अपना गाना सुनाएँगे । जब बड़ी भीड़ हुई तो पर्दा खुला और एक व्यक्ति विदूषक की टोपी पहने उलटा तानपूरा लिए गर्दभ स्वर में रेंकने लगा । तीसरी बार एक मित्र के नाम से सूचना निकाली कि एक मेम रामनगर के सामने खड़ाऊँ पर चढ़ कर गंगा पार करेगी । यह देखने के लिए खासा मेला जमा हुआ परन्तु सन्ध्या होने पर सबको ध्यान आया कि आज पहली अप्रैल है । होली के अवसर पर भी इनका परिहास देखते ही बनता था ।

उनके व्यंग का शिकार कौन हो जाएगा, इसका कोई निश्चय नहीं था । बड़े-बड़े अकड़-खाँ भी कभी सपड़ जाते थे । रत्नाकर जी के पिता इनके ननिहाल के पास ही रहते थे जिनसे इनकी बड़ी मित्रता थी । एक बड़े सवेरे यह उनके घर पहुँचे जिसके कपाट बन्द थे । बाहर से इन्होंने ध्वनि बिगाड़कर “हर गंगा माई हर गंगा” का गाना शुरू किया । इनके मित्र ने आवाज न पहचानकर नौकर द्वारा याचक को पैसा भिजवाया । वह बिचारा द्वार खोलते ही इन्हे देखकर हँसता हुआ वापस गया और अपने मालिक को सूचना दी । एक दक्षिणी वैयाकरणी किसी भी शब्द का अर्थ व्याकरण सूत्रों से निकाल दिया करते थे । उनके चमत्कार की प्रशंसा सारे नगर में फैली और काशी-नरेश ने भारतेन्दु जी से की । भारतेन्दु जी ने इनकी परीक्षा लेनी चाही जिसके लिए काशीराज दरबार बुलाया गया । बड़े-बड़े विद्वान् एकत्र हुए । महाराज के सकेत पर भारतेन्दु जी ने काशी के गुण्डो की बोली में जोर से कहा, “भाँपोक” । राजा शिवप्रसाद ने जिनके पण्डित जी अतिथि थे कहा, “हुजूर, देखिए यह ऐसे विद्वान् को गाली दे रहे हैं ।” भारतेन्दु ने तुरन्त उत्तर दिया, “हुजूर, देखे राजा साहब अर्थ बता रहे हैं ।” राजा चुप हो गए और महाराज मुस्करा दिए । पण्डित जी अनेक व्याकरणी सूत्र लगाने पर भी उसका अर्थ न कह सके । प० बट्टीनारायण चौधरी ‘प्रेमधन’ अपनी मासिक पत्रिका में केवल अपने ही लेख छापा करते थे । उसे देख भारतेन्दु जी ने लिखा ‘जनाब यह किताब नहीं है कि

जो आप अकेले ही हर काम फरमाया करते हैं, बल्कि अखबार है कि जिसमें अनेक जन लिखित लेख होना आवश्यक है, और यह भी जरूरी नहीं है कि यह सब एक तरह के लिखाड हों।”

पेनी रीडिंग क्लब की स्थापना लेखको को प्रोत्साहित करने तथा मनोरंजन के लिए हुई थी। एक दिन भारतेन्दु जी श्रात पथिक का स्वाग बनाकर गठरी पटक और पैर फैलाकर ऐसे बैठ गए कि देखने वाले हँसी से लोटपोट हो गए। मूसा पैगम्बर की नकल में नगे सिर, कफनी पहने, रंग-बिरंगी बोटले लिए चौकी पर आ खड़े हुए दोनों ओर दो चँवरधारियों के साथ। लम्बे कागज का पुलन्दा खोल कर उपदेश पढ़ने लगे जिससे एकत्र समाज का बड़ा मनोरंजन हुआ। मित्र मण्डली, साहित्य गोष्ठी, कवि दरबार, मुशायरा आदि का तो प्रायः नित्य ही आयोजन हुआ करता था। साधारण-से-साधारण खुशी के अवसर पर वे उत्सव मना डालते थे। राम कटोरा के बाग में एक कवि समाज कई दिनों तक चलता रहा। कवियों और साहित्यिकों के खाने-पीने, रहने-नहाने आदि की सब व्यवस्था बाग में ही की गई थी जिससे सब कवियों का सत्संग और उनकी कविताएँ ध्यानपूर्वक सुनने का पर्याप्त समय मिले।

भारतेन्दु जी आशुकवि थे, कवित्व शक्ति उन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी। बात-की-बात में छन्द बना देना उनकी अखर प्रतिभा का द्योतक है। उदयपुर महाराज की कवि-सभा में इन्हे चार समस्याएँ पूर्ति के लिए राजकवियों ने दी और तीन स्वयं महाराज ने। प्रत्येक समस्या सुनते ही इन्होंने चार-चार मिनट में उसकी पूर्ति की। महाराज की प्रत्येक समस्या की दो-दो सुन्दर पूर्तियाँ तुरन्त सुनाई जिस पर प्रसन्न होकर महाराज ने उन्हें पाँच सौ रुपया पारितोषिक दिया। एक बार काशी-नरेश के दरबार में एक समस्या-पूर्ति कोई न कर सका। इतने में हरिश्चन्द्र जी वहाँ आ पहुँचे। महाराज ने इनसे कहा कि इस समस्या की पूर्ति कोई न कर सका, आप ही कीजिए।

भारतेन्दु जी ने तुरन्त एक छन्द सुना दिया । एक ईर्ष्यालु कवि बोल उठा “पुराना कवित्त बाबू साहब को याद रहा होगा ।” यह सुनकर भारतेन्दु जी बड़े कुपित हुए और बैठे-बैठे उन्होंने दस-बारह छन्द एक के बाद एक सुनाए और प्रत्येक बार उस कवि से पूछा, “क्यो कवि जी, यह भी पुराना है न ?” अन्त में महाराज के बहुत कहने पर उन्होंने सुनाना बन्द किया । काशीराज के पौत्र के यज्ञोपवीत उत्सव के अवसर पर “यज्ञोपवीत परम पवित्रम्” पर कई श्लोक तत्काल गढ़कर इन्होंने पढ़े थे ।

एक महफिल मे चेचक के दाग वाली एक वेश्या का नाच देखते समय किसी ने कहा, “हुजूर, इस चेचक पर कुछ सुनाइए” भारतेन्दु जी ने तुरन्त यह शेर कहा .

खे आइना बश पर दिल तो जा जा फिसलता है ।

खुदाई दाग चेचक से जरा ठहराव मिलता है ॥

एक बाग मे लावनी हो रही थी । भारतेन्दु जी सुनने के लिए भीड़ मे घुसे । उनके साथ के एक मित्र ने कहा, “चलिए, यहाँ क्या रखा है ?” एक लावनीबाज बोला, “जी हाँ, यहाँ क्या है ? इस प्रकार कोई तुरन्त कविता बनाकर गाए तो जाने ।” भारतेन्दु जी ने एक डफली छीनकर तुरन्त लावनी बनाकर सुनाना आरम्भ किया । जब लोगों को ज्ञात हुआ कि वे कौन है तो बड़ी क्षमा याचना की ।

इनकी आशु कवित्वशक्ति का बड़े-बड़े लोहा मानते थे । वे अपनी रचना में दूसरो का भाव कभी भरने का प्रयास नहीं करते थे । यदि अनजाने आ गया तो उसे नष्ट कर दूसरी लिखते थे । स्फुट छन्द ही नहीं, ‘लेख, भाषण, पद्यमय निबन्ध, प्रहसन नाटक आदि बात की बात पर तैयार करते थे । ‘अंधेर नगरी’ एक ही दिन मे लिख मारी थी; ‘विजयनी विज वंजयन्ती’ सभा होने के कुछ क्षणो पूर्व ही समाप्त की थी । ‘अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा’ नामक प्रहसन की रचना एक ही दिन मे हुई थी । उर्दू मे ‘रसा’ उपनाम से लिखा,

‘कानून ताजीरात शौहर’ भारतेन्दु जी ने दो घण्टों में लिख दिया था। इनकी कई पत्रिकाएँ निकलती थी। जिनकी सामग्री छपने के पूर्व तुरन्त ही तैयार कर देते थे। उनके लिखने-पढ़ने का सामान सदा उनके साथ रहता था। मजलिस और सभाओं में, घूमने-फिरने के समय यह अपनी लेखन-सामग्री साथ में रखते थे। यदि भूल गए तो कोयले से ही लिख देते थे। एक बार लिखकर फिर वे उसे दोहराते नहीं थे। इसीलिए प्रेमधन जी उनके इस उतावलेपन पर बहुधा कहा करते थे—‘बाबू हरिश्चन्द्र अपनी उमर में जो कुछ लिख जाते हैं उसे एक बार और देखकर परिमार्जित कर लिया करे तो वह और भी सुन्दर और सुडौल हो जाता।’ किन्तु यदि वे परिमार्जन में पड़ते तो हिन्दी साहित्य के भण्डार को इस विविध रूप से इतने छोटे जीवन में न भर पाते।

भारतेन्दु जी स्वयम् गुणी तो थे ही किन्तु बड़े गुणग्राहक भी थे। किसी से भी सुन्दर रचना सुनने पर उसे तुरन्त पारितोषिक देते थे। उनका विश्वास था कि ‘निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल’ और इसलिए उन्होंने हिन्दी को राजभाषा बनवाने का बड़ा आन्दोलन किया और हिन्दी के लेखकों तथा कवियों को प्रोत्साहित करने में कभी न चूके थे। हजारों रुपया खर्च कर हिन्दी की पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ छपवाते तथा मुफ्त में बाँटवाते थे। वे बड़े शीलवान थे और गरीबनिवाज भी। किसी ने कोई वस्तु माँगी तो उसे नहीं कहना न जानते थे। उनका हृदय इतना कोमल था कि वह पर-दुःख सुनकर कातर हो उठता था और वे दुःखी की यथाशक्ति सहायता करते थे। उस समय उनके पास जो कुछ भी होता था दे डालते थे और फिर कभी ध्यान में भी न लाते थे। बहुधा वे गुप्त दान दिया करते थे। लिफाफों में नोट रखकर, पुडिया में रुपए बाँध कर, गजरे में धन छिपाकर न जाने कितनों को उन्होंने दान कर दिया। उनको कभी कल की चिन्ता न होती थी, आज जो है उसे दे डालेंगे। काशी में कोई भी दुःखी असहाय बाहर से आता तो इनकी कीर्ति सुनकर इनसे अवश्य मिलता और यह उसकी मुराद पूरी करते।

एक बार पण्डित प्रवर सुधाकर द्विवेदी ने अपना एक दोहा हरिश्चन्द्र को सुनाया—

राजघाट पर बँधत पुल जहँ कुलीन की ढेर ।

आज गए कल देखि के अजहि लौटे फेर ॥

‘कल’ शब्द के प्रयोग पर प्रसन्न होकर भारतेन्दु ने उन्हें सौ रुपया दिया । चरखाबी निवासी कवि परमानन्द ने बिहारी सतसई का संस्कृत में अनुवाद किया था । उसे बेचकर कन्या-विवाह के लिए कुछ धन जुटाने के लिए वे काशी पहुँचे । किन्तु किसी ने भी उनकी सहायता न की । यद्यपि वे बड़ो से मिले किन्तु मौखिक सहानुभूति के अतिरिक्त और कुछ न मिला । भारतेन्दु जी ने उनकी रचना सुनकर पाँच सौ रुपये स्वयम् दिए और दो सौ किसी दूसरे से दिलाए । लखनऊ के एक वैयाकरणी का धन और आभूषण मिर्जापुर में किसी ने गगातट पर चोरी कर लिया । उन्हें एक सज्जन काशी लाए और भारतेन्दु जी से भेंट कराई । भारतेन्दु जी ने उन्हें आदरपूर्वक अपने घर पर एक मास तक रखा और फिर पर्याप्त धन देकर विदा किया । लखनऊ से हटाए जाने पर नवाब वाजिद अली शाह अपने शोराओ के साथ कलकत्ते में जा बसे थे । उन्हीं के एक शायर मिर्जा आबिद ने एक कसीदा भारतेन्दु के पास भेजकर आर्थिक सहायता माँगी जिसको उन्होंने सहर्ष भेजा । अनेक अन्य विषयों के विद्वान् काशी आते थे । भारतेन्दु जी स्वयम् तो उनकी सहायता करते ही थे साथ में उनकी सहायतार्थ सभा-समाज भी जुटा देते थे । फ्रांसीसी-युद्ध पर एक नाटक लिखे जाने पर चार सौ रुपये, सर विलियम म्योर की जीवनी पर दो सौ रुपया और संस्कृत के कवियों की जीवनी लिखने पर दो हजार रुपये देने के विज्ञापन इन्होंने अपनी पत्रिका में निकाले थे ।

साहित्य-सेवा के लिए प्रोत्साहित करने के अतिरिक्त भारतेन्दु जी अपने परिचितों को रोजगार से लगा देने में भी आर्थिक सहायता करते थे । गदाधर प्रसाद सिंह को उन्होंने एक सहस्र रुपये देकर प्रेस खुलवा

दिया था। कई लोगो को फोटोग्राफी की दूकान खुलवा दी, कई अन्य को जादू के खेल का सामान मोल ले दिया जिससे वे अपनी जीविका कमा सके। इनकी स्वयम् 'हरिश्चन्द्र एण्ड ब्रदर्स' के नाम की एक दूकान थी जिसमे महाजनी, जवाहिरात, औषधि, फोटोग्राफी का सामान, घड़ियाँ, चित्रादि फुटकर वस्तुएँ बेचने की व्यवस्था थी। प्रायः परिचित लोग इस दूकान से माल उधार ले जाया करते थे और फिर दाम देने की न सोचते थे। शील-सकोच के कारण हरिश्चन्द्र जी ने कभी किसी से तकाजा न करवाया। एक बार एक गोस्वामी महाराज ने इनकी मोती की माला की बड़ी प्रशंसा की और दूसरे अवसर पर एक शाहजादे ने इनके चित्रों के अलबम की तारीफ के पुल बाँधे। दोनों ही अवसरों पर अपनी प्रिय वस्तुओं को उन्होंने इन लोगो के नजर कर दिया। यदि जीवन में किसी वस्तु के दे डालने का उन्हें खेद हुआ तो वह था उनका अलबम जिसको फिर पाने के लिए वे पाँच सौ मुद्राएँ देने को तैयार थे।

कन्या-विवाह के लिए बहुत लोग इनके पास धन माँगने को आते और वे उनकी सहायता करते। एक बार एक पण्डित जी इनके पास आकर बैठ गए किन्तु लोगो के आने-जाने का ताँता बँधा रहने के कारण वे अपनी बात न कह सके। कुछ देर बाद ही हरिश्चन्द्र जी ने घर से लाकर एक पेटी उन्हें देते हुए कहा, 'इसे अपने घर ले जाइए। जो और कमी हो फिर आकर बताइए।' पेटी में कई कीमती साड़ियाँ और दो सौ रुपया था। एक दक्षिणी ब्राह्मण भारतेन्दु जी के यहाँ नित्य आने लगे और तीन चार घण्टे बैठकर चले जाने लगे। जब कई दिन हो गए तो उन्होंने ब्राह्मण से आने का कारण पूछा। उसने कहा 'बाबू साहब, मैं निर्धन ब्राह्मण हूँ। मुझे दो कन्याओं की शादी करना है। मैंने सुन रखा था कि राजा हरिश्चन्द्र, बलि, कर्ण के समान अग्रवाल कुल भूषण बाबू हरिश्चन्द्र काशी में हैं। अतएव आपके दरबार में आने लगा। विक्रम और भोज के समान यहाँ विद्वानों का जमघट और आपकी सौम्यता देखकर मेरा साहस आपको कष्ट देने का न हुआ।

यदि आप आज न पूछते तो मैं नित्य की भाँति लौट जाता । 'भारतेन्दु जी ने अपनी अँगुली से हीरे की अँगूठी निकाल कर उसके हाथ पर रखते हुए कहा—'इस वक्त यही है, आप इसे एक हजार रुपये में बेच लीजिए, आपका कार्य निकल जायगा ।' एक दरिद्र को जाड़े की रात्रि में ठिठुराता पड़ा देख उसे उन्होंने अपना दुशाला उढ़ा दिया और एक अन्य अवसर पर कातर ध्वनि से एक भिक्षुक को ओढ़ना माँगते सुन उन्होंने अपने मकान के छज्जे से उस पर मूल्यवान दुशाला फेंक दिया । घर वाले उनकी इस उदारता से तग आ गए थे । अतएव उन्होंने भिक्षुक को कुछ रुपया देकर दुशाला वापस लेना चाहा किन्तु उसने न माना और भारतेन्दु जी के लिए नया दुशाला तुरन्त खरीदकर लाना पड़ा ।

अपने दान, गुण, विद्वता और स्वभाव के कारण भारतेन्दु जी बड़े लोकप्रिय हो गए थे । काशी का बच्चा-बच्चा उन्हें जानता था और बाहर से आया कोई व्यक्ति भी उनकी कीर्ति और प्रशंसा सुने बिना न जाता था । हिन्दी को उन्नत बनाने के प्रयास में इनके अनेक मित्र हो गए थे । इनकी सहृदयता, विशालता एवं उदारता के कारण इनकी मित्रमण्डली इन्हे 'अजातशत्रु' कहकर पुकारती थी । कलकत्ते के पण्डित बालकृष्ण भट्ट, मिर्जापुर के पण्डित बद्रीनारायण प्रेमधन, कानपुर के प० प्रताप नारायण मिश्र, पूना के प० गणेश बासुदेव जोशी, प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, रत्नाकर जी के पिता बाबू पुरुषोत्तमदास, डाक्टर भगवानदास के पिता बाबू माधोदास, विजय-राघव गढ़ के राजकुमार ठाकुर जगमोहन सिंह, जबलपुर के राजा अमानसिंह गोठिया, भरतपुर राजवंश के रावकृष्णदेव शरणसिंह 'गोप', भारतीय भाषाओं के योरोपीय विद्वान् मिस्टर फ्रेडरिक पिन्काट, बंगाल के विख्यात् ईश्वरचन्द विद्यासागर तथा बंकिमचन्द चट्टोपाध्याय आदि अनेक तत्कालीन महापुरुष भारतेन्दु जी के अभिन्न थे । विद्यासागर जी तो अपनी रचित 'शकुन्तला' को भारतेन्दु जी को समर्पित करने के लिए काशी पधारे थे । पिन्काट ने उनकी प्रशंसा में छन्द लिखे थे जिसकी

दो पक्तियाँ निम्नांकित हैं.—

श्रीयुत सकल कविन्द कुल, नुत बाबू हरिचन्द ।

भारत हृदय सतार नभ, उदय रहो जनु चन्द ॥

ब्रिटिश सरकार भी उनका आदर और सम्मान करती थी। म्युनिसिपल कमिश्नर तो यह थे ही, बड़ी कम आयु में आनरेरी मैजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। इनको हण्टर कमीशन के सम्मुख अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार व्यक्त करने को आमन्त्रित किया गया जिनके तर्क और साक्षी की अग्रेजों ने बड़ी प्रशंसा की। महारानी विक्टोरिया के पुत्र ड्यूक आफ एडिनबरा के काशी पधारने पर भारतेन्दु को ही उन्हें नगरी दिखाने का भार सौंपा गया था। दिल्ली दरबार में इनका आमन्त्रण होता था और युवराज को इन्होंने अपना काव्य-संग्रह समर्पित किया था। काशी आने पर वायसराय लिटन ने इन्हें विशेष रूप से निमन्त्रित कर घण्टो इनसे बातचीत की। स्थानीय अफसरों में इनका बड़ा मान था। किन्तु ईर्ष्यालु व्यक्तियों से यह देखा न गया और उन्होंने अग्रेज हाकिमों से इनकी चुगली खाना आरम्भ किया। इसमें इनके गुरु राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का भी हाथ था। राजा साहब से भाषा के स्वरूप पर इनका मनोमालिन्ध्य हो गया था। भारतेन्दु जी शुद्ध हिन्दी के समर्थक थे और राजा साहब आमफहम भाषा के हामी। शिष्य की शैली को सब ने अपनाया और गुरु की एक न चली। इसी द्वेष के कारण राजा साहब ने हरिश्चन्द्र के खिलाफ अग्रेजों के कान भरना आरम्भ किया। भारतेन्दु के 'लेवी प्राण लेवी' तथा 'मसिया' लेखों का ऐसा उल्टा अर्थ लगाकर बताया कि अफसर बड़े कुपित हुए। हरिश्चन्द्र ने राजा साहब के विरुद्ध एक लेख 'भुतही इमली का कनकौआ' लिखा जिसे राजा साहब ने यह कहकर जड़ दिया कि यह छोटे लाट के खिलाफ है क्योंकि वे भी एक आँख का चश्मा लगाते थे। बस सरकार की इन पर पूरे तौर से कुदृष्टि हो गई। किन्तु सत्यवादी हरिश्चन्द्र ने इसकी कुछ परवाह न की और लिखा 'हम सब स्वभाव सिद्ध राजभक्त हैं। बेचारे छोटे पद के अग्रेजों

को हमारे चित्त की क्या खबर, यह अपनी ही तीन छटाँक पकाने जानते हैं ।” देश-प्रेम के कारण वे सरकार के शुभचिन्तक थे और इसीलिए वे वैसे ही अन्त तक बने रहे ।

इस घटना से हरिश्चन्द्र जनता के और निकट आ गए और उसके अधिकाधिक लोकप्रिय बने । काशी-नरेश के यहाँ इनका बड़ा आदर होता था, विजयाबागूरम के महाराज ने इनके सम्मान में उत्सव किया और पाँच सहस्र मुद्राएँ दीं । महाराज डुमराँव श्री राधिकारमण प्रसाद सिंह इन्हें प्रतिवर्ष सहस्र रुपये देकर सम्मानित करते थे । राजा वकटगिरि तथा छत्रपुर इनके घर पर मिलने आते थे । मेवाड़-महाराजा, काश्मीर-नरेश, ग्वालियर के सिन्धिया, रीवाँ के अधीश्वर जब कभी काशी आते तो भारतेन्दुजी से अवश्य मिलते और उनका बड़ा सम्मान करते । योरोपीय विद्वत् समाज इन्हें भारत का ‘पोएट लारिएट’ कहा करता था और ‘एशिया का एकमात्र समालोचक’ मानता था । भारतीय विद्वानों ने इन्हें सम्मानित करने के लिए एक मानपत्र दिया, जिसमें कहा गया कि ‘सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द’ । इनकी लोकप्रियता का प्रमाण इसी से मिलता है कि जब भारत सरकार ने शिवप्रसाद को ‘सितारेहिन्द’ अथवा भारत-नक्षत्र का खिताब दिया तो प्रजापक्ष से इन्हें ‘भारतेन्दु’ की उपाधि देने के लिए विद्वानप्रवर पण्डित रामशंकर व्यास ने ‘सारसुधानिधि’ दैनिक पत्र में सुझाव किया जिसको सब ने हर्ष से स्वीकार कर लिया और प्रजा, राजा, देशीय-विदेशीय विद्वान् सभी ने उसे उनके नाम का एक अंग बना दिया । इससे अधिक उनकी लोकप्रियता का क्या कारण होगा कि राजा की कृपा से राजा साहब केवल उडुगन ही बन पाए किन्तु प्रजा के प्रेम से बाबू साहब कलानिधि बने ? गुरु गुड ही रह गए और चेला शक्कर हो गए । किन्तु चन्द में कलक भी होता है जिसे हरिश्चन्द्र ने स्वयम् स्वीकार करते हुए विनम्र निवेदन किया है —

जगतजाल मे नित बन्धौ, पर्यौ नारि के फन्द ।

मिथ्या अभिमानी पतित, झूठौ कवि हरिचन्द ॥

प० सुधाकर द्विवेदी का कहना है कि 'सबहि भूमि गोपाल की' शीर्षक लेख लिखकर हरिश्चन्द्र जी ने बालशास्त्री की बड़ी खिल्ली उड़ाई थी, उसी पर कुपित होकर जल्ला पंडित के वशज जम्बू-निष्कासित पंडित रघुनाथ ने उनको बड़ो को अपमानित करने और कल्लूयुगी कन्हैया होने के कलक के कारण यह उपाधि दी थी । बाद मे लोगो ने उन्हे कलकी पूर्णचन्द्र न मानकर पूजनीय द्वीज का चाँद माना था । जो हो, किन्तु हम उन्हे आज सब कलकरहित अखिल कलापूर्ण कलाधर ही मानते है ।

बाहर से हरिश्चन्द्र जी का सम्मान हो रहा था, किन्तु अन्दर से उनकी दशा शोचनीय हो रही थी । अर्थाभाव और कुटुम्बी उनकी स्वच्छन्दता को जकड़ रहे थे । मुक्त-हस्त दान, शाही प्रतिथि-सत्कार, संगीत-नाटक आयोजन, सभा-सोसायटी संगठन, मुशायरा — कवि-सम्मेलन आदि मे बड़ा धन व्यय होता था । शौकीन तबियत के ऐमे थे कि इत्र और विचित्र वस्तुओ को खरीदने मे मुँहमाँगे दाम देते थे । इत्र तो उनके यहाँ इतना इकट्ठा हो जाता था कि दीपावली पर दियो मे जलाया जाता था । नान-गान मे हजारो का अपव्यय होता था । चारो ओर से खर्च ही खर्च था । एक ओर साहित्य-सेवा मे रुपये लग रहे थे और दूसरी ओर दीन-दुखियो की सहायता में, तीसरे देशोपकार के कामो के चन्दे मे, चौथे प्राचीन रीति के धर्म-कार्यो मे, पाँचवे यौवनावस्था के आनन्द-विहारो मे । पहले चार प्रकार के व्यय तो परोपकारार्थ ही थे, किन्तु वे भी सामर्थ्य के बाहर होने पर अपव्यय की सजा पाते है । पाँचवाँ अवश्य अपव्यय था, किन्तु आदत की लाचारी थी । पैतृक सम्पत्ति कोई कारूँ का खजाना न थी । अर्थाभाव खलने लगा, तब भी भारतेन्दु ने अपना हाथ न सिकोडा । परिणाम यह हुआ कि इनके सम्बन्धी चिन्तित हो उठे और इनके छोटे भाई गोकुलचन्द ने बंटवारा

चाहा । भारतेन्दु जी ने अपने हिस्से का बहुत बड़ा भाग पहले ही खर्च कर डाला था, अतएव बँटवारे में इन्हे थोड़ा धन और कुछ अचल सम्पत्ति मिली । इनके हिस्से का बत्तीस हजार रुपया, जो बेतिया-महाराज से मिला था, उसे इन्होंने अपने एक मुसाहिब के यहाँ जमा करा दिया था । एक दिन वह महाशय घर में चोरी हो जाने का स्वाग बनाकर रोने-कलपने लगे । भारतेन्दु ने हँसते हुए कहा—“यही गनीमत समझो कि चोर तुम्हें न उठा ले गया । जाने दो, गया सो गया ।” उन पर मुकदमा चलाने के लिए लोगों ने बहुत आग्रह किया किन्तु विशालहृदय भारतेन्दु ने एक न मानी । इस प्रकार वे अपने ही घर में निराश्रय हो गए और ऋण लेकर काम चलाने लगे जिससे उनकी अचल सम्पत्ति भी बिक गई । पैतृक सम्पत्ति के बाद मानामह से भी जो कुछ इन्हे मिला, उसे भी इन्होंने फूँक-तापकर समाप्त कर दिया ।

सासारिक झूटों से छूटने पर भारतेन्दु जी ने अपना सारा समय मातृभाषा और देश-सेवा में लगाना आरम्भ किया । अर्थाभाव में इनका सारा परिवार तथा कुटुम्बी इनके धिपक्षी हो गए । उधर चापलूसों ने शिकायत करके इन्हे भारत सरकार का कोपभाजन बनाया । इस प्रकार हिन्दी की सेवा में बाधा पड़ते देख वे उद्विग्न हो उठे और लिखा—‘क्या सज्जन लोग विद्यादि सुगुण से अलंकृत होकर भी उसकी इच्छा बिना ही दुःखित होते हैं और दुष्ट मूर्ख के अपमान सहते हैं ? केवल प्राण-मात्र त्याग नहीं करते, पर उनकी सब गति हो जाती है ।’

भारतेन्दु जी की ऐसी शोचनीय अवस्था में उनके ऋणदाताओं ने कष्ट देना आरम्भ किया । वे ऋण के मामले में बड़े सावधान थे । कभी किसी से कुछ ले लेते थे तो उसे ध्यान रखकर लौटा देते थे । एक सज्जन जो पितृहीन पुत्रों को बिगाड़ने में कुशल थे, इनकी जगन्नाथपुरी की यात्रा के समय इनसे मिलने आए । भारतेन्दु जी के बहुत मना करने पर भी उन्होंने बरजोरी इन्हे दो अशफियाँ दे दी कि वे इन्हे अपने पास रखें, वक्त-जरूरत काम आवेगी । यह दो अशफियाँ उनके चतुर हिर्नपी,

ने रुक्के बदलकर दस हजार कर ली, परन्तु उनको चुकाने के लिए भारतेन्दु जी ने निस्सकोच अपनी हवेली उन्हें दे डाली। एक मेला देखते समय उन्होंने किसी से चार रुपये उधार ले लिए थे। घर वालों ने उसे अपव्यय कहकर नहीं दिया, किन्तु भारतेन्दु जी ने स्मरण रखकर वह ऋण चुकाया। वे सत्यप्रिय थे और यह जानते हुए भी कि सत्य का मार्ग कटकाकीर्ण है, वे अपने सिद्धान्तों से कभी नहीं डिगे। 'पै दूढ़ स्त्री हरिचन्द्र को, टरै न सत्य बिचार।' इन्होंने किसी महाजन से एक कटर-नाव और कुछ नकद रुपया लेकर तीन हजार की हुण्डी लिख दी थी। इसका पहला मुकदमा सर सैयद अहमदखॉ के इजलास में हुआ। जज साहब स्वयं देशभक्त थे और भारतेन्दु की स्वदेश-सेवा के लिए उनकी कद्र करते थे। इन्हें कष्ट में देखकर उन्होंने पूछा—“आपने असल में इनसे कितने रुपये पाए ?”

भारतेन्दु—“पूरे रुपये पाए।”

प्रश्न—“जो कटर इन्होंने लगा दिया है वह कितने रुपये का है ?”

उत्तर—“जितने रुपये का मैंने लेना स्वीकार किया है।”

इस पर जज ने टेबुल पर हाथ पटकते हुए कहा—“बाबूसाहब, आप भूलते हैं, जरा बाहर घूम आइए और समझ-बूझकर जवाब दीजिए।” बाहर लोगो ने बहुत समझाया, सब की बातें बड़े ध्यान से सुनी, किन्तु इजलास में आकर बोले—“मैं अपने धर्म और सत्य को साधारण धन के लिए नहीं बिगाड़ने का। मुझसे इस महाजन ने जबर्दस्ती हुण्डी नहीं लिखवाई और न मैं बच्चा ही था कि समझता न था। जब मैंने अपनी गरज से समझ-बूझकर उसका मूल्य और नजराना आदि स्वीकार कर लिया है तो क्या मैं अब देने के भय से उस सत्य को भग कर दूँ ?”

यह सुनकर सैयद अहमद बड़े दुःखी हुए, क्योंकि वे जानते थे कि लोगों ने एक के बार किए हैं और भारतेन्दु पर रकम बढ़ाकर दावा किया है। किन्तु वे विवश थे। उन्होंने फैसला देते हुए लिखा—“चूँकि बाबू हरिश्चन्द्र की सत्यता पर अदालत को पूर्ण विश्वास है, इसलिए

उनके स्वीकार और अस्वीकार के ही अनुसार डिगरी दी जाती है और अन्य साक्षी की कोई अपेक्षा नहीं ।”

एक दूसरे डिगरीदार ने ऐसे समय वारण्ट निकलवाया जिस दिन भारतेन्दु जी दुर्गा जी का मेला देखने जा रहे थे । इसकी सूचना पाकर वे सवेरे काशी-नरेश के यहाँ पहुँचे और उनसे अपनी व्यग्रता प्रकट की । उन्होंने तुरन्त सात सौ रुपया दिया । उस रुपये को लेकर वे मेले में पहुँचे ताकि डिगरीदार वहाँ उनकी बेइज्जती न कर सके । दैवात् एक गरीब ब्राह्मण वहाँ अपनी कन्या के विवाह के लिए दान माँग रहा था । भारतेन्दु जी ने उसकी दुःख-गाथा सुनकर उसे सब रुपया दे दिया । घर लौटे तो वहाँ वारण्ट मिला । उन्होंने किसी में रुपया उधार लेकर जान बचाई, किन्तु शीघ्र ही प्रयत्न करके उस ऋण से भी मुक्ति ले ली । इन ऋण की कथाओं को सुनकर बरबस अंग्रेजी-साहित्य के ओलिवर गोल्डस्मिथ का स्मरण हो आता है जो संकीर्ण परिस्थितियों में भी विशाल हृदय रखता था । उसके लिए प्रसिद्ध है कि ‘हिज पिटी गेव् एर चैरिटी बिगैन ।’ भारतेन्दु जी भी योग्य-अयोग्य पात्र का पता लगाए बिना ही मुक्त कर से धन लुटाते थे ।

इनकी यह दशा देखकर एक दिन काशी-नरेश ने कहा—“हरी, गोकुल आए थे और तुम्हारे विषय में बहुत कुछ कह रहे थे । अब तो तुम अपनी पुत्री का विवाह भी कर चुके हो, यही रहा करो । हाथ खर्च के लिए बीस रुपये रोज ले लिया करो । वहाँ रहोगे तो तुम पर पैतृक सम्पत्ति नाश करने का दोष लगता रहेगा ।” यह सुनकर उनका स्वाभिमान तिलमिला उठा और बोले—“आपकी आज्ञा पर जो मेरा कथन है, वह कल आप को ज्ञात होगा ।” यह कहकर वे घर से लिखने-पढ़ने का सामान लेकर कुछ दिनों के लिए गायब हो गए और काशीराज तथा अपने अनुज को पत्र लिख भेजा जिसका आशय यह था कि ‘अब मैंने अपने पूर्वजों की सम्पत्ति खाना छोड़ दिया है ।’ कुछ दिनों बाद वे फिर अपने घर लौट आए ।

ऋण की चिन्ता, पारिवारिक क्लेश, कुटुम्बियों की उपेक्षा, सरकारी कोप, हाथ की संकीर्णता, हिन्दी तथा देश की सेवा में बाधा आदि ने उनके हृदय को जर्जर कर दिया और यह रोग-ग्रस्त हो गए। इसी समय मेवाड़पति के आग्रह से वे श्रीनाथ-दर्शन को उदयपुर गए। लम्बी यात्रा का भार इनका जीर्ण शरीर न सह सका और यह व्याकुल हो उठे। वहाँ से अपने भाई को पत्र लिखा—“दो बातों की हम को चिन्ता है, प्रथम कर्ज की, दूसरी मल्लिका की रक्षा। थोड़ी-सी डिगरी जो बच गई है, उसको चुका देना और जीवन-भर दीन-हीन मल्लिका की, जिसको हमने धर्मपूर्वक अपनाया है, रक्षा करना।

प्रवास से लौटने पर खाँसी और ज्वर ने आ दबोचा। उसी समय अकस्मात् हैजा हो गया। बड़ी कठिनाई से प्राण बचे, किन्तु शरीर अति दुर्बल हो गया था। अतएव पढ़ने-लिखने के परिश्रम के कारण शनै-शनै वह कृश होकर क्षय का शिकार बन गया। फिर क्या था, मर्ज बढ़ता गया ज्यो-ज्यो दवा की। 6 जनवरी 1885 को जब नौकरानी सबेरे तबियत का हाल पूछने आई तो भारतेन्दु जी बोले—“जाकर कह दो कि हमारे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया छाप रहा है। पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खाँसी की, सीन हो चुकी है। देखे, लारट नाइट कब होती है?” उसी रात को अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण को एक दोहे से सम्बोधित करते हुए भारतेन्दु ने अपना साप्ताहिक नाटक समाप्त किया। इनकी मृत्यु का समाचार सुनकर समस्त काशी नगरी चीत्कार मारकर रो पड़ी। हिन्दी-ससार में तहलका मच गया। भारतेन्दु जी ने सत्य ही कहा था—

‘कहेगे सब ही नैन नीर भरि भरि, पीछे प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जायगी।’

बचपन में बड़े घराने के बालको पर प्रायः भृत्यों का शासन रहता है। वे अपने कर्त्तव्यों को सरल कर लेने के लिए कभी-कभी बच्चों का हिलना-डुलना तक बन्द कर देते हैं। रवीन्द्रनाथ का एक नौकर था— काला, मोटा, बड़े बाल वाला। वह उन्हें कमरे के निर्दिष्ट स्थान पर बिठाकर उनके चारों ओर खड़िया से लकीर खींच देता था और बड़ी गम्भीर मुद्रा बनाकर तर्जनी दिखाते हुए कहता था, “लकीर के बाहर निकले नहीं कि शामत आई।” उससे रवीन्द्र बड़े आतंकित हो जाते थे, क्योंकि उन्होंने रामायण में पढ़ लिया था कि लकीर पार करने से सीता का क्या हाल हुआ था।

स्कूल में एक अध्यापक उनके साथ बड़ी सख्ती का व्यवहार करते थे। यदि उन्हें पाठ याद न होता तो बेच पर खड़ा कर देते थे। कभी-कभी धूप में जलती जमीन पर नंगे पैर घटो खड़ा रहना पड़ता था। स्कूल का यह शासन और अत्याचार उन्हें बिल्कुल पसन्द न आया। अतएव उन्होंने ऐसे स्कूल में पढ़ना छोड़ दिया और एक ऐसी आदर्श पाठशाला की कल्पना करने लगे जहाँ बन्धन-मुक्त होकर मार-पीट से परे स्वच्छन्द पढ़ाई हो सके। आगे चलकर उनकी इस कल्पना ने शान्ति निकेतन को जन्म दिया।

विद्यार्थी की स्थिति में जिस हीनता का उन्हें अनुभव हुआ, उसे मिटाने का उन्होंने एक उपाय ढूँढ़ निकाला। उन्होंने भी घर के बराड़े में एक कक्षा खोल दी। बराड़े की रेलिंग के डंडे उनके छात्र बन गए। एक बेत हाथ में लेकर चौकी पर आसीन हो वे मास्टरी करने लगे

जिसका वर्णन उन्ही के शब्दों में सुनिए “रेलिंग के डण्डों में कौन-सा अच्छा लड़का था और कौन-सा बुरा, अपने मन में इसका मैं स्थायी निर्णय कर चुका था। यहाँ तक कि भलेमानस डण्डे और शरारती डण्डे की, बुद्धिमान डण्डे और बेवकूफ डण्डे की शक्ल का फर्क मुझे साफ-साफ दिखाई देता था। निरन्तर बेत की मार खा-खाकर शरारती डण्डों की ऐसी दुर्दशा हो गई थी कि उनमें अगर प्राण होते तो वे जरूर प्राण-विसर्जन करके शान्ति-लाभ उठाते। मेरे बेत की चोटों से जितनी ही उनमें विकृति आती रहती, उतना ही उन पर मेरा गुस्सा बढ़ता जाता और मेरी समझ में नहीं आता कि कैसे उन नालायकों को काफी सजा दी जाय, ताकि उनकी अकल ठिकाने आ जाय। मैंने उस नीरव कक्षा पर भयकर मास्टरी की है।”

रवीन्द्र ने केवल सात-आठ वर्ष की आयु में ही कविता लिखना आरम्भ कर दिया था। कविता लिखने का श्रीगणेश बड़े नाटकीय ढंग से हुआ। “मेरे भानजे श्री ज्योति प्रकाश मुझसे आयु में काफी बड़े थे। एक दिन दोपहर को उन्होंने मुझे अपने कमरे में बुलाकर कहा, ‘तुम्हें कविता लिखनी होगी’, यह कहते हुए उन्होंने मुझे पद्य छन्द में चौदह अक्षर जोड़ने की रीति समझा दी। कविता जैसी चीज को मैंने अब तक केवल छपी पुस्तकों में ही देखा था। मुझे इस बात की कल्पना करने तक का साहस न था कि कविता अपने-आप प्रयत्न करने से लिखी जा सकती है। एक दिन हमारे घर चोर पकड़ा गया था। बहुत ही डरता हुआ किन्तु अत्यन्त कुतूहल के साथ मैं उसे देखने गया। देखा कि वह बिल्कुल ही मामूली आदमी जैसा है। ऐसी अवस्था में दरबान ने जब उसे मारना शुरू कर दिया तो मेरे मन को बड़ी चोट लगी। कविता के सम्बन्ध में भी मेरी वही दशा हुई। कुछ शब्दों को अपने हाथ से जोड़-तोड़ कर ही जब प्यार छन्द हो उठा तो पद्य-रचना का मेरा मोह फिर टिक न सका। अब देखता हूँ कि कविता बेचारी पर जो मार पड़ती है, वह भी कम नहीं। कभी-कभी तो दया भी आती

है। किन्तु मार को रोका नहीं जा सकता, हाथ सुरसुराते रहते हैं। चोर की पीठ पर भी इतने लोगों के इतने डण्डे नहीं पड़ते होंगे।”

डर जब जाता रहा, तब फिर लिखना किसके रोके रुकता था। किसी कर्मचारी से नीले कागज की एक कापी प्राप्त कर ली और उस पर उन्होंने पेसिल से टेढ़ी-मेढ़ी लकीर खींच कर बड़े-बड़े अक्षरों में कविता लिखना शुरू कर दिया। आगे चलकर उन्होंने लिखा—“खुद ही तब लेखक-मुद्रक-प्रकाशक इन तीनों का, एक और एक का तीन बना हुआ था। सिर्फ विज्ञापन करने के काम में भाई साहब मेरे सहयोगी थे।” रवीन्द्र को घर पर पढ़ाने वाले एक शिक्षक मैकबेथ के थोड़े अशो का अनुवाद नित्य समझा जाया करते थे और उसका बगला छन्दों में रूपान्तर करने को कह जाते थे। जब बाल कवि उसे न कर पाता तो उसे एक कमरे में बन्द कर देते और काम कर लेने पर ही बाहर निकालते। इस प्रकार दबा-धमकाकर कविता करने का अभ्यास उनको कराया जाता।

धीरे-धीरे यह कविता में इतना तल्लीन हुए कि घरवालों ने इनकी ओर से आशा छोड़ते हुए समझा कि यह भविष्य में कुछ भी न कर सकेगा। इनकी कविता ‘वनफूल’ और ‘प्रलाप’ शीर्षक से पहले-पहल ‘ज्ञानाकुर’ नामक एक मासिक पत्र में सन् 1895 में प्रकाशित हुई। एक मित्र ने सूचित किया कि एक बी० ए० उनकी आलोचना लिख रहे हैं। “बी० ए० सुनते ही मेरी तो जबान बन्द हो गई। बचपन में सत्यप्रसाद ने बराड़े से ‘पुलिस-पुलिस’ पुकार कर मुझे जितना डरवा दिया था, इन मित्र ने भी आज वही दशा कर दी।” बड़ी घबराहट में कई दिन कटे, किन्तु बी० ए० समालोचक बाल्यकाल के उस ‘पुलिसमैन’ की तरह ही अदृश्य रह गए।

अपनी प्रारम्भिक कविताएँ कवि को भाप से भरी बुदबुद-राशि और आवेग की फेनिलता के कारण निरर्थक-सी जान पड़ी। उसने अंग्रेजी कवि चैटर्टन के सम्बन्ध में मुन रखा था कि वह प्राचीन कवियों

का अनुकरण करके ऐसी कविताएँ लिखता था कि अधिकांश लोग उसकी स्वयं की वास्तविकता को जान ही न पाते। उसी का अनुसरण कर कवि ने एक दिन अपने एक मित्र से कहा—“ब्रह्म-समाज की लाइब्रेरी में खोज करते-करते मुझे एक पुराने भानुसिंह नामक कवि द्वारा रचित जीर्ण पोथी मिली, जिसकी कुछ कविताएँ टीप लाया हूँ।” वे कविताएँ जब मित्र ने सुनी तो बड़े मुग्ध हुए और बोले, “ऐसी कविताएँ तो शायद विद्यापति और चण्डीदास के हाथ से भी न निकलती। यह मुझे दे दो। मैं इन्हे प्राचीन काव्य-संग्रह में छपवाऊँगा।” मन ही मन प्रसन्न होते हुए रवीन्द्र ने कहा—“यह देखिए मेरी लिखावट है। विद्यापति, भानुसिंह की नहीं।” मित्र भ्रम में गम्भीर हो गए और बोले “खैर तुम्हारी है तो बुरा नहीं लिखा है।”

सत्रह वर्ष की अवस्था में रवीन्द्र विनायक पढ़ने गए। ब्राइटन पब्लिक स्कूल के अध्यक्ष ने इनको देखते ही कहा—“वाह! तुम्हारा माथा बहुत ही भव्य है।” लड़के इनके विचित्र अंग्रेजी उच्चारण पर खूब हँसते और मजा लेते। इनकी देशी पोशाक भी प्रायः लोगो का बड़ा मनोरंजन करती थी। कभी-कभी लोग इनकी अनोखी पोशाक देखने में इतना मग्न हो जाते कि गाड़ियों के नीचे दबते-दबते बचते। एक जाड़े की रात्रि में केण्ट के एक शहर में इन्होंने रास्ते के किनारे एक व्यक्ति को खड़ा देखा। उसके फटे जूतों में से उंगलियाँ दिखाई देती थी, पैरों में मोजे न थे, वक्षस्थल भी खुला हुआ था। भीख माँगना निषिद्ध होने के कारण वह मुँह से कुछ कह नहीं सकता था, किन्तु उसकी करुण दृष्टि सब बताएँ देती थी। रवीन्द्र उसके हाथ पर एक गिन्नी रख कर चलते बने। जब वे कुछ दूर निकल गए तो क्या देखते हैं कि वह उनके पीछे भागता चला आ रहा है। रुकते ही उसने निकट आकर कहा—“महाशय, आपने भूल से मुझे गिन्नी दे दी है।” इतना धन उसके लिए आशातीत था, वह उसे वापस कर रहा था। किन्तु रवीन्द्र ने कहा—“इसे ही आप रखिए।” इसी प्रकार एक स्टेशन पर कुली

को उन्होंने पेनी न होने के कारण हाफ-क्राउन दे दिया । वह भी इनकी गाड़ी के पीछे चिल्लाता दौड़ा और उसके रकने पर बोला—“आपने शायद पेनी समझकर मुझे हाफ क्राउन दे दिया है ।” ऐसी घटनाओं का रवीन्द्र के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे कहने लगे कि जो अपने विश्वास को नष्ट नहीं करते, वे ही औरों का विश्वास करते हैं ।

विलायत से लौटकर रवीन्द्र फिर अपने कविता-कानन में विचरण करने लगे । इनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी, लोगों ने कटूक्तियाँ सुनायी कि “टूटे-फूटे छन्द और आधी-आधी भाषा का कवि है, उसका सब कुछ धुवाँ-धुवाँ सा, छाया-छाया सा होता है ।” इन कटु आलोचनाओं के बावजूद कवि अपने ही मार्ग पर डटा रहा और उसने ‘सध्या-सगीत’ नाम से अपना एक संग्रह प्रकाशित करा दिया । एक दिन वह एक मित्र की कन्या के विवाह में गया । मण्डप-द्वार पर मित्र बकिमचंद चट्टोपाध्याय को माला पहनाकर स्वागत कर रहे थे । रवीन्द्र को उधर से आता देख बकिम बाबू ने बड़ी तेजी से वह माला उनके गले में डाल दी और बोले—“यह माला इन्हीं के गले में पड़नी चाहिए ।” फिर मित्र को सम्बोधित कर बोले—“तुमने सध्या-सगीत पढ़ा है ?” उनके ‘नहीं’ करने पर बकिम बाबू उसकी एक कविता सुनाते हुए रवीन्द्र की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे । एक ख्यातिप्राप्त साहित्यकार के मुख से उनकी कविताओं की सराहना ने एकत्रित जन-समूह के मध्य नवोदित कवि का मार्ग प्रशस्त कर दिया ।

धीरे-धीरे कवि की ख्याति बढ़ी और भारत के बाहर भी फैली । सन् 1913 में उन्हें साहित्य का ‘नोबल पुरस्कार’ देकर सम्मानित किया गया । किन्तु कवि को अब किसी बाहरी सम्मान की आकांक्षा नहीं थी, अतएव इससे उनकी ख्याति और बढ़ी तो वे घबड़ा उठे । जब खुशी से पागल-सा डाकिया पुरस्कार का सम्वाद लेकर कवि के पास पहुँचा तो उनकी मुद्रा सहसा गम्भीर एवं चिन्तित हो उठी और उनके मुख से यह शब्द निकल पड़े—“अरे, इसने तो मेरी शान्ति हर ली ।” नोबल

पुरस्कार प्राप्त करने के लिए उन्हें कोपेनहैगेन जाना पड़ा। वे जब स्टेशन पर उतरे तो प्लेटफार्म पर अपार जनसमूह एकत्र था। उन्होंने समझा कि शायद कोई महापुरुष उसी गाड़ी से आ रहा होगा, जिसके स्वागतार्थ भीड़ लगी है। अतएव वह चुपके से खिसककर एक किनारे जा बैठे। लोगो ने रेल का डब्बा-डब्बा छान डाला और कुछ हताश हो लौटने भी लगे, किन्तु शीघ्र ही उनकी दृष्टि एक लम्बी दाढ़ी-बाल और विचित्र परिधान वाले व्यक्ति पर पड़ी जिसे सबने आकर घेर लिया। फिर करतल-ध्वनि से सारा स्थान गूँज उठा। वे सब भारतीय कवि के स्वागतार्थ वहाँ आए थे जो स्वयं चुपके से उतर कर किनारे बैठ गया था।

नोबल पुरस्कार का समाचार फैलते ही गीताजलि की माग ससार के कोने-कोने से हो उठी। 'माधना' के जर्मन अनुवाद की पन्नास हजार प्रतियाँ तीन सप्ताह में ही बिक गईं। कवि की कृतियों को पढ़ने की इच्छा सभी देश के लोगो में बलवती हो उठी। सभी ने उनका रसा-स्वादन किया और बहुत उनसे प्लावित हुए। किन्तु सब से बड़ा सम्मान उन्हें फ्रांस में एक साधारण व्यक्ति से मिला। वहाँ एक बार कवि से मिलने एक सैनिक आया। वह उनके दर्शन कर रोमांचित हो उठा और बोला—“महाराज, जैसे ही मैंने अपने कप्तान से कहा कि मैं आप से मिलने जाना चाहता हूँ, उन्होंने अविलम्ब मुझे अनुज्ञा दे दी। मुझे आप से मिलना परम आवश्यक था, ताकि मैं आप से यह बता सकूँ कि आपकी रचनाओं ने मेरे जीवन पर अमित प्रभाव डाला है और सकट में मेरी सहायता की है।” कवीन्द्र बाद में कहा करते थे कि “मेरे लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा सम्मान नहीं हो सकता था।”

कवीन्द्र का विश्वास था कि ससार के समस्त मनुष्यों के मन के साथ मन का एक अखण्ड और गम्भीर योग है। उसमें कहीं भी एक जगह शक्ति की जो क्रिया होती है वह अन्यत्र गूढ़ भाव से सक्रमित हुआ करती है। उनके स्वयं के विचारो ने विभिन्न लोगो पर इतना

संक्रमण 'किया था कि अन्यान्य देशों के रहने वाले उन्हें परम श्रद्धा की दृष्टि से देखते और उनसे बड़ा नैकदय अनुभव करते थे। कुछ लोगो ने उन्हें 'भारतीय शेली' कहना चाहा, किन्तु कवि ने उसे शेली के लिए अपमानस्वरूप और स्वयं के लिए उपहासस्वरूप ठहराया। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि से विभूषित किया। किन्तु जब जलियाँ-वाला बाग में भारतीयों से अमानुषिक व्यवहार किया गया तो उन्होंने इसका विरोध करते हुए वह उपाधि लौटा दी। महात्मा गांधी ने उन्हें 'गुरुदेव' की उपाधि दी, जिस नाम से वे भारतवर्ष में प्रसिद्ध हुए। चीन वालों ने उनका नाम चू-चेन-तान रखा जिसका अर्थ है, 'बिजली की भाँति कड़ककर उदित होता हुआ भारतीय सूर्य'।

कवि के दीप्तिमय मुखमण्डल पर व्यक्तित्व का प्रभाव प्रचुर परिमाण में विद्यमान था और उनकी तेजोमय प्रतिभा के सम्मुख सभी के मस्तक झुक जाते थे। लन्दन में एक प्रसिद्ध चित्रकार की दूकान के द्वार पर गुरुदेव का बड़ा चित्र टंगा देखकर एक उच्च भारतीय अफसर ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—“अच्छा, आप हमारे कवीन्द्र को जानते हैं?” “जी नहीं”। चित्रकार ने उत्तर दिया—“मैं कविता के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता किन्तु हाँ, यह भव्य मुखाकृति है, बड़ी विशाल तथा भावोत्पादक; ऐसी अन्य मेरी नजर में नहीं पड़ी।”

एक दिन बी०ए० का एक विद्यार्थी गुरुदेव के पास पहुँचा और बोला—“सिर-दर्द की कठिन बीमारी के कारण परीक्षा देना मेरे लिए असम्भव हो रहा है। मैंने स्वप्न में देखा है कि आपकी स्त्री पूर्व जन्म में मेरी माता थी, उनका चरणोदक पीने से मेरा रोग दूर हो जाएगा। आप शायद इन सब बातों पर विश्वास न करें?” गुरुदेव ने उत्तर दिया—“मैं विश्वास करूँ या न करूँ, तुम्हारा रोग अच्छा हो तो हो जाने दो।” उन्होंने घर जाकर सीधे घड़े से पानी लेकर उसे दे दिया। उस पानी से 'पुत्र' को आश्चर्यजनक लाभ हुआ। धीरे-धीरे वह गुरुदेव से और सहायता भी प्राप्त करने लगा। जब गुरुदेव को मालूम हुआ कि वह

विद्यार्थी धूम्रपान ऐसे दुर्व्यसन में फँसा है तो उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ। अतएव जब एक लड़की ने भी ऐसे प्रमाद की याचना की तो गुरुदेव बोले—“एक पुत्र को लेकर मैं काफी दुःख उठा चुका हूँ, अब पूर्व-जन्म की कन्या का दायित्व लेना मेरे लिए असम्भव है।”

कवीन्द्र के एक भतीजे थे सोमेन्द्र बाबू। वे बड़े मेधावी थे। अतएव आशा की जाती थी कि आगे चलकर वे शान्ति निकेतन को सम्हालेगे; किन्तु वे नये विचारों और नई धाराओं में ऐसे बहे कि थाह न मिली। उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह कर लिया। घर लेकर अलग रहने लगे। एक दिन सोमेन्द्र अपने घर में एक बड़ा पिजरा बनवाकर ले आए—ऐसा बड़ा कि उसमें बीमियो सुगो समा जाएँ। स्त्री ने पूछा—“इसमें क्या पालियेगा?” सोमेन्द्र बोले—“अभी विचार कर रहा हूँ। लोग तोता-मैना, बिल्ली-खरगोश आदि पालते हैं किन्तु मैं कोई नई चीज पालकर संसार का मार्गदर्शन करूँगा।” एक रात्रि को उन्होंने एक बड़ा पक्षी लाकर उसमें बन्द कर दिया। स्त्री जब दूसरे दिन सवेरे बैठक में गई तो पिजरे में एक डरावनी शक्ल देखकर चीख पड़ी। सोमेन्द्र ने एक बड़ा खूँसट उल्लू पाला था। बेचारी स्त्री घर में उसकी उपस्थिति और रात्रि में उसकी वीभत्स चीत्कार से भयभीत हो गई। उसका शरीर क्षीण होने लगा, उसका मस्तिष्क सन्तुलन खोने लगा। किन्तु सोमेन्द्र बाबू अपने आदर्श पर दृढ़ थे। कोई चारा न देखकर वह एक दिन गुरुदेव के पास पहुँची और उनसे अपने पतिदेव के अद्भुत आदर्श की कथा सुनाई। धैर्यपूर्वक सब सुनकर गुरुदेव ने कहा—“अच्छा, हम सोचेंगे।”

पत्नी को गुरुदेव के बाह्य व्यवहार से कोई सहायता का आश्वासन नहीं मिला था, अतएव वह हताश घर लौट आई। यह सोचकर दिन काटने लगी कि भगवान् को इसी प्रकार मारना इष्ट है। किन्तु एक दिन सहसा गुरुदेव सोमेन्द्र के घर पहुँचे। सोमेन्द्र बैठक में थे। गुरुदेव सीधे घुसते वहाँ चले गए, जहाँ पिजड़ा रखा था और पक्षी के निकट जा बड़े नाटकीय ढंग से राइट-एबाउट-टर्न होकर चलते हुए बाहर निकल गए।

सोमेन्द्र ने पीछा किया कि काका कैसे आए और कैसे तुरन्त लौट चले । गुरुदेव बिना पीछे देखे फाटक तक पहुँचे और फिर घूमकर बोले—
“सोमेन्द्र !”

सोमेन्द्र—“हाँ काका ।।”

गुरुदेव—“सुनते हो ?”

सोमेन्द्र—“हाँ काका ।”

गुरुदेव—“इस घर में दो उल्लू नहीं रहेंगे । इसमें एक ही रहेगा ।”

काका इतना कहकर चलते बने । सोमेन्द्र हतप्रभ हो गए । विचारों का सघर्ष, काका के शब्द, नए आविष्कारों का अपमान इत्यादि अनेक बातें सोचते वह कमरे के कोच पर लुढ़क रहे । इन्हीं विचारों के तारतम्य में रजनी ने आ घेरा । सोमेन्द्र बाबू उठे, अपने प्यारे पक्षी की ओर देखा और फिर पिजरे का दरवाजा खोल दिया । उल्लू फड़फड़ाकर अंधकार में विलीन हो गया ।

बंगला के सुप्रसिद्ध लेखक श्री प्रमथनाथ विशी शान्ति निकेतन के पूर्व छात्र थे और कवीन्द्र के विशेष कृपापात्र थे । उनकी अभिरुचि नाटक लिखने की ओर देखकर गुरुदेव ने उन्हें एक कहानी दी और उसे नाटक का रूप देने के सुझाव भी । उन्होंने दो बार उसे सुधारा और तीसरी बार बड़ा समय लगाकर स्वयं अपने हाथ से उसे सवारा । प्रमथ सोचने लगे कि गुरुदेव अपना अमूल्य समय इस तरह क्यों नष्ट करते हैं । एक दिन गुरुदेव आश्रम के छोर तक घूमने गए जहाँ गाब नाम का एक पेड़ था । गाब अशोक की तरह का एक वृक्ष होता है किन्तु निकृष्ट कोटि का । सहसा प्रमथनाथ उधर से निकले । उन्हें रोककर गुरुदेव ने कहा—“जानते हो इस पेड़ को ? एक दिन बड़े यत्न से मैंने इसे लगाया था । सोचा था कि यह अशोक का वृक्ष है किन्तु जब बड़ा हुआ, पता चला, अशोक नहीं गाब है । तुम्हें भी अशोक समझकर पाल-पोस रहा हूँ । कहीं गाव न निकल जाना ।”

प्रमथनाथ तथा अन्य दो मित्रों ने मिलकर एक साप्ताहिक पत्र, ‘बुधवार’ निकाला, जिसमें शान्ति निकेतन के समाचार दिए जाते थे ।

शिशु-भवन के विद्यार्थियों को इसे खरीदना अनिवार्य कर दिया गया। किन्तु उतने से खर्च न निकलता था। पौष-उत्सव के अवसर पर जब मन्दिर में गुरुदेव का प्रवचन होता था, खासी भीड़ लगती थी। बहुत से लोग कलकत्ते और पाम-पडोम से आते थे। इस अवसर पर गुरुदेव अपने नए गीतों को गाते थे जिनके स्वर स्वयं गुरुदेव देकर दीनू बाबू को सिखा देते थे। सम्पादकों ने पत्र की बिक्री का यह अच्छा अवसर जानकर उसमें गुरुदेव के नए गीत दीनू बाबू से पूछकर छापे। किसी ने इसकी चर्चा रात्रि में गुरुदेव से की तो बोले—“अरे! पेपर आउट हो गया।” दूसरे दिन पत्र की हजारों प्रतियाँ हाथो-हाथ बिक गईं। किन्तु जब गुरुदेव ने गीत गाना आरम्भ किया तो वे सब नए और पत्र में मुद्रित गीतों से भिन्न थे। श्रोता इधर-उधर पन्ने पलटते किन्तु एक भी गीत न मिलता। उनके चेहरो पर क्षोभ और क्रोध का भाव देख तथा गुरुदेव के प्रेम और अहिंसा के प्रवचन का कुछ भी प्रभाव न पड़ते देख सम्पादक भाग खड़े हुए और कुण्डी लगाकर कमरे में रजाई ओढ़ सो रहे। उन्होंने जब दूसरे दिन दीनू बाबू से इसकी चर्चा की तो वे बोले—“गुरुदेव ने रातोंरात सब नए गीत बना डाले।”

सैकड़ों लड़के और लड़कियाँ आटोग्राफ लेने के लिए कवीन्द्र को घेरते। वे किसी को निराश नहीं करते थे। सभी को एक-दो पक्तियाँ लिखकर दे देते थे। फिर बाद में यही पक्तियाँ लेकर पूरी कविता बना देते थे। इसी प्रकार कवीन्द्र प्रमाणपत्र देने में भी बड़े उदार थे। जिसने किसी वस्तु का नमूना भेजा और प्रमाणपत्र माँगा कि उसे तुरन्त लिखकर भेज देते थे। उनके निजी सचिव ने एक दिन कहा—“गुरुदेव, यदि आप इस उदारता से प्रमाणपत्र वितरित कीजिएगा तो सम्भवतः संसार की कोई वस्तु न बचेगी जिसे आपका प्रमाणपत्र न मिला हो।” गुरुदेव गम्भीर हो गए और बोले—“यह नितान्त असत्य है। संसार में एक ऐसी भी वस्तु है जिसे मैं कभी भी प्रमाणपत्र नहीं दूँगा।” सचिव की कुतूहलता बढ़ी और उसने विनम्र होकर पूछा—“ऐसी कौन सी वस्तु है,

गुरुदेव ?” आवेगहीन शान्तिपूर्ण भाव से अपनी विशाल दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए गुरुदेव ने कहा—“रेजर ब्लेड्स ।”

दाढ़ी के नाम पर एक दूसरी घटना का स्मरण हो आता है । कवीन्द्र आम खाने के बड़े शौकीन थे । अतएव आम की फसल में वे जहाँ होते, आम का प्रबन्ध किया जाता । चीन के एक नगर में उन्हें भोजन के समय जो आम खाने को दिया गया, उसमें बहुत बड़े-बड़े रेशे थे । उन्हें चाकू से काटकर खाना कठिन था और चाटा कहाँ तक जाए । अतएव आम को एक प्याले में शिर्वालिग की भाँति स्थापित करके गुरुदेव ने करबद्ध हो नमस्कार किया । सहभोजियों के कुतूहल का अन्त न रहा । उन्होंने पूछा—‘यह कैसा अभिनय कर रहे हैं आप ?’ कवीन्द्र धीरे से बोले—“इनको इसलिए नमस्कार कर रहा हूँ क्योंकि ये मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं । इनकी दाढ़ी मेरी दाढ़ी से भी कही बड़ी है ।”

कवीन्द्र के कविता लिखने का कोई विशेष समय न था । जब भी तरंग आती, लिखने लगते थे । किन्तु वर्षाकाल उनके अधिक उपयुक्त पड़ता था । कविता की प्रथम पक्ति ढालने में वे बड़ा परिश्रम करते थे तत्पश्चात् शेष पक्तियाँ निर्भरिणी की तरह प्रवाहित हो चलती थी । लिखते समय जब वे विचारों में मग्न होते तो किसी से मिलना पसन्द नहीं करते थे । यदि कोई आ गया तो दो-तीन बार ऐसे खाँसते, मानो हुकार निकल रही हो जिसे सुनकर किसी को उनके पास जाने का साहस न होता । यदि उनकी रचना समाप्त हो चुकती तो जो भी जाता उसे वे सुनाते और उसका मतामत सुन आनन्दित होते । उनकी लिखावट बड़ी सुन्दर और स्वच्छ होती थी । उसमें काटा-पीटी बहुत कम करते थे । यदि काटना आवश्यक ही हुआ तो धीरे से एक धीमी रेखा शब्द या वाक्य पर खींच देते थे । किन्तु वृद्धावस्था में वे उस पर ऐसी चील-बिलउआ बनाते थे कि बढते-बढते वह एक सुन्दर डिजाइन बन जाती थी । इसी प्रकार क्रमशः चित्राकन की ओर उनकी रुचि बढ़ चली थी ।

एक सज्जन ने उनकी काव्य-प्रतिभा के सम्बन्ध में जानने का आग्रह

किया तो कवीन्द्र बोले—“भाई, मुझे कविता का व्यापार करते इतना अधिक समय हो गया है कि अब लेखनी मेरी पूर्ण आज्ञाकारिणी हो गई है। अतएव उमग आने का प्रश्न ही नहीं उठता; जब निर्भरिणी (फाउण्टेन पेन) उठाई, कविता प्रवाहित हो चलती है।” फिर कुछ रुक मुस्कराते हुए उन सज्जन की ओर देखकर कवीन्द्र ने पूछा—“किन्तु यह तो बताइए कि मेरे ट्रेड सीक्रेट्स (व्यापार की गोपनीय बातें) जानने का आपको क्या अधिकार है ?”

कभी-कभी लोग उनकी कविता का अर्थ उन्हीं से पूछने लगते थे। इस सम्बन्ध में कवीन्द्र ने लिखा है—“कविता सुनकर जब कोई कहता है कि समझ में नहीं आया, तो बड़ी मुसीबत में पड़ना पड़ता है। किसी चीज को समझने के लिए तो कोई कविता नहीं लिखता, असल में हृदय की अनुभूति कविता में आकार धारण करने की चेष्टा करती है। कोई अगर फूल की सुगन्ध सूँघकर कहे कि “कुछ समझ में नहीं आया”, तो उसे यही जवाब देना पड़ेगा कि “इसमें समझने की कोई बात ही नहीं, केवल सुगन्ध है।” किन्तु फिर वह प्रश्न उठता है “सो तो मालूम है, लेकिन आखिर खामखाह सुगन्ध भी क्यों, इसके मानी क्या ?” या तो इसका जवाब देना बन्द करना पड़ता है, नहीं तो फिर जरा कुछ पेचीली भाषा में कहना पड़ता है, “प्रकृति के भीतर का आनन्द इसी तरह सुगन्ध होकर प्रकट होता है।” एक बार एक अध्यापक उनकी एक कविता का अर्थ जानने के लिए उनके पीछे ही पड़ गए। कवीन्द्र ने उत्तर दिया—“जिस तरंग में आकर मैंने यह कविता लिखी थी, वह कब की समाप्त हो चुकी है! अब मैं यह नहीं बता सकता हूँ कि लिखते समय मेरा इन पक्तियों से क्या आशय था। मैं इनका उसी प्रकार मतलब लगा सकूँगा जैसे कि आप या कोई अन्य। मैं जानना चाहूँगा कि लोग इस कविता का क्या अर्थ लगाते हैं।”

कवीन्द्र की जीवनचर्या बड़ी सरल किन्तु व्यस्त थी। सवेरे विहग-कलरव के साथ वे शय्या त्याग देते थे। अरुणोदय की प्रतीक्षा में पूर्व

दिशा की ओर हाथ जोड़कर बैठ जाते थे। सूर्योदय देखना उन्हें रुचिकर था। ब्यालू करके लिखने-पढ़ने बैठ जाते थे और अनवरत रूप से घण्टों काम किया करते थे। बारह बजे वे स्नान-भोजन करते। यदि व्यस्त रहने के कारण न उठते तो उनका नौकर उन्हें बुला ले जाता। दिन का सोना उन्हें रुचिकर न था, अतएव भोजनोपरान्त फिर काम में लग जाते थे। रात्रि को विश्राम करने के पूर्व तक वे ऐसे ही परिश्रम किया करते थे। नियमित जीवन होने के कारण उनका स्वास्थ्य ठीक रहता था।

किन्तु जब बीमार पड़ते तो बड़ी कठिनाई होती थी। वे अपना दैनिक कार्यक्रम वैसा ही चलाना चाहते थे और दवा पीने से चिढ़ते थे। उनका उड़िया नौकर जब दवा पीने को लाता तो उठकर चल देते। नौकर पीछे-पीछे चलता, अनुनय-विनय करता, किन्तु गुरुदेव भल्लाकर कहते—“तू ही खा ले ना !” नौकर अपने प्रभु को जानता था अतएव वह पीछे ही पड़ा रहता और दवा पिलाकर ही मानता। एक बार सन् 1939 में गुरुदेव का स्वास्थ्य बड़ा खराब हो गया था। डाक्टरों के पूर्ण विश्राम करने के निर्देशों और आश्रमवासियों के प्रार्थना करने पर भी वे अपना पढ़ना-लिखना बन्द न करते थे। भोजन करने के तुरन्त बाद कार्य में लग जाते थे। लोगो ने कस्तूर बा के पास एक तार भेजा कि “कृपया गांधी जी से कहे कि वे गुरुदेव को आराम करने के लिए बाध्य करे, किसी और की वे सुनते ही नहीं।” महात्मा जी सवाद पाते ही शान्तिनिकेतन पहुँचे और कवीन्द्र के पास पहुँचकर कहने लगे—“गुरुदेव, एक भिक्षा दीजिए।” कवीन्द्र भाँप गए और उत्तर दिया—“जोंक को जोंक नहीं लगती।” किन्तु गांधी जी भी पूरे वकील थे। किसी-न-किसी तरह उन्होंने गुरुदेव को राजी कर लिया और कहा—“भोजन के बाद आप कमरे के सब दरवाजे बन्द कर कम-से-कम एक घण्टे विश्राम किया करे।” उन्हें गांधी जी की बात माननी पड़ी और वे ऐसा करने लगे। एक दिन क्षिति बाबू को गुरुदेव ने बुलवा भेजा। जब तक वे आवें, गुरुदेव भोजन करके विश्राम करने चले गए थे। बन्द दरवाजों की दरारों से आते प्रकाश

में किसी की परछाईं दिखाई दी तो गुरुदेव ने पूँछा—“क्षिति बाबू है क्या ?” क्षिति बाबू ने कहा, “हाँ, किन्तु आप अन्दर क्या कर रहे हैं ?” गुरुदेव ने छूटते ही उत्तर दिया—“गांधी जी की भिक्षा दे रहा हूँ ।”

महात्मा जी अब दूसरे अवसर पर शान्तिनिकेतन गए तो गुरुदेव ने उनके हाथ में एक बन्द लिफाफा रखते हुए कहा—“यहाँ से चले जाने पर इसे खोलिएगा ।” महात्मा जी ने ट्रेन में उसे पढा, लिखा था, “मेरी इच्छा है कि मेरे बाद शान्तिनिकेतन की आप व्यवस्था करें !” महात्मा जी ने वैसा ही किया और भारत के स्वतन्त्र होने पर शान्तिनिकेतन को केन्द्रीय सरकार में सम्बद्ध करा दिया ।

एक बार कवीन्द्र बडौदा राज्य के अतिथि होकर गए । साथ में क्षिति बाबू भी थे, जो अपने एक मित्र के यहाँ ठहरे । शाही वर्दी पहने खानसामा कवीन्द्र की सेवा में लगा दिए गए । जब क्षिति बाबू अपने मित्र के साथ सपत्नीक मिले तो कवीन्द्र ने पूँछा, “तुम हमारे साथ क्यों ठहरे ?” क्षिति बाबू ने मित्र की पत्नी की ओर संकेत करते हुए कहा—“मैं इन अन्नपूर्णा का अतिथि हूँ ।” कवीन्द्र बोले—“और मेरे भाग्य में बदी हैं दाढ़ी-मूँछ वाली अन्नपूर्णाएँ ।”

कवीन्द्र में असीम धैर्य और सहनशक्ति थी । वे घण्टा एक ही अवस्था में बिना हिले-डुले, खाँसे-खखारे अविचल भाव से बैठे रहते थे । सासारिक कष्टों को अत्यन्त नीरव होकर सहन करते थे । एक बार उन्हें बिच्छू ने काट लिया; पैर नीला पड़कर सूज गया । आश्रम के विद्यार्थियों की भीड़-भाड़ और डाक्टरों की दौड़-धूप शुरू हो गई । किन्तु वे शान्त-अविचल बैठे रहे । डाक्टर ने पूँछा—“क्या आपको तकलीफ नहीं हो रही है ?” हँसकर बोले—“हाँ, मेरे पैर को तकलीफ तो जरूर है, लेकिन मुझे नहीं ।” इसी प्रकार एक सभा में भाषण देने जाते समय चप्पल की एक कील पैर में गड़ गई, किन्तु उन्होंने किसी को बताया नहीं और भाषण देने लगे । सभा समाप्त होते-होते लोगो ने देखा कि उनका पैर रक्तस्नात हो उठा है । लोगों ने कहा, “यह आपने

पहले क्यों नहीं बताया ?” बड़े शान्त से बोले—“पहले बता देता तो जो मेरी वाणी सुनने के लिए एकत्र हुए थे, उन्हें निराश होना पड़ता ।” उनकी आश्चर्यजनक सहनशक्ति और सबके प्रति स्नेह को देख लोग अवाक् रह गए ।

आत्मीयो तथा बन्धु-बाधवो के अकाल अवसान से उन्हें अमित आघात लगे थे । किन्तु उनसे वे घबराए नहीं । उनकी चिरसंगिनी मृत्युसंगिनी बनी, उनकी पुत्री स्वर्ग सिधारी, और एक पुत्र ने भी विदा ली, मृत्यु का नग्न-नृत्य उनकी आँखों के सामने से गुजरा, वे व्याकुल हो उठे, किन्तु उन्होंने शान्ति नहीं छोड़ी; वरन् इस आपत्तिकाल में भी वे किसी भारी परिवर्तन की उत्कट प्रतीक्षा करने लगे । उन्होंने लिखा, “यह मृत्युकाल मेरे लाभ के लिए था, मैं दिन-रात इसके विषय में सोचता था और मुझे किसी त्रुटि के पूर्ण होने का—एक विशेष प्रकार की पूर्णता का—अनुभव होने लगा । मुझे विश्वास हुआ कि हम ससार में जिन वस्तुओं को नष्ट होते देखते हैं वे वास्तव में नष्ट नहीं होती, ससार का एक कण भी नष्ट नहीं होता..... अब मैं जान गया, मृत्यु क्या है ?—यह सम्पूर्णता थी—किसी वस्तु का अभाव नहीं ।”

कवीन्द्र की रचनाओं की भाँति उनकी जीवन-स्मृतियाँ भी बड़ी मधुर हैं जिनके स्मरण-मात्र से भावुक हृदय आनन्द-विभोर हो उठता है । वे न केवल एक महान् कवि थे वरन् दार्शनिक, शिक्षक, उपन्यासकार, संगीतज्ञ, नाटककार, अभिनेता, चित्रकार एवं वक्ता भी थे । वे भारत की आत्मा के सुरस्रष्टा और भारतीय सस्कृति के गायक थे । वे पूर्ण सन्त और महान्तम गुरुदेव थे जिनके पैर पृथ्वी से किंचित् ऊपर उठकर और जिनकी बाहु पूर्व एवं पश्चिम में पसरकर विश्व को एक बन्धन में बाँधने का प्रयास करती रहीं । वे ‘एक में समस्त’ और ‘समस्त में एक’ थे । उन्होंने भारत के मस्तिष्क को विश्व में ऊँचा किया और स्वतन्त्र भारत को वह राष्ट्रीय गीत दिया, जिसे आज जन-जन गाता है—‘जन-मन-गण अधिनायक जय हे ! भारत भाग्य-विधाता ।’

आचार्य

प्रारम्भ मे 'सरस्वती' नागरी-प्रचारिणी सभा की अनुमति से चलाई गई थी। अक्टूबर, सन् 1904 की सरस्वती मे आचार्य ने सभा द्वारा हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तको की खोज की रिपोर्ट पर तीव्र आलोचना लिखी। सभा वालो ने इसके विरोध मे प्रेस-संचालक को एक पत्र भेजा। फिर क्या था, पत्र और रिपोर्ट की और भी कड़ी खबर ली गई। सभा ने सरस्वती को आतंकित करने के विचार से लिख भेजा कि आगामी जनवरी से सभा सरस्वती पर से अपना वरद हस्त उठाना चाहती है। संचालक और सम्पादक ने उसे सहर्ष स्वीकार किया और नए वर्ष से अनुमोदन का अन्त कर दिया गया। सभा के पत्र का प्रतिकार करते हुए प० केदारनाथ पाठक पर भी छीटे उछाले गए थे। इस विवाद के कारण आचार्य ने नागरी-प्रचारिणी सभा-भवन मे जाना भी बन्द कर दिया था। जब कभी उन्हें किसी से मिलना होता था तो सभा से लगे कम्पनी बाग मे बैठते थे और जिसे चाहते उसे किसी द्वारा वही बुला लेते थे।

इस झगड़े के कुछ दिन बाद पण्डित केदारनाथ पाठक आचार्य से जुही (कानपुर) मे मिलने गए। उन्हें घर के द्वार पर ही बैठा देख पाठक जी ने आते ही प्रश्न किया, "सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमे किस रूप में प्रतिवाद करना होगा? क्या 'विषस्य विषमौषधम्' की नीति का अवलम्बन करना पड़ेगा?"

आचार्य आगन्तुक को आवेग में देखकर कुछ मुस्कराते हुए बोले—
"देवता, ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ।" इतना कहकर वे घर के

अन्दर गए और जलपान के लिए मिष्टान्न लाकर उनके आगे रख दिया। फिर कमरे से एक बड़ा डण्डा लाकर उनके हाथ में रखते हुए बोले—“सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो। पहले जलपान करके सबल हो जाओ और तब फिर यह डण्डा और मेरा सिर हाजिर है।” पाठक जी के क्रोध पर घड़ो पानी पड़ गया। उनके चित्त की क्रोधाग्नि को अश्रुधारा ने बुझा दिया। उग्र प्रश्न और उद्दण्ड व्यवहार के प्रति ऐसा नम्रतापूर्ण उत्तर और मद्बोचित सद्व्यवहार देख उनके मन में आचार्य जी के प्रति और भी अधिक श्रद्धा तथा स्नेह उमड़ पड़ा।

आचार्य जी एक शुष्क तथा सात्त्विक ब्राह्मण थे। उनकी शुष्कता में व्यग था, उनकी सात्त्विकता में विनोद। इन्हीं की सहायता से वे प्रगाढ़ नींद में सोए हिन्दी भाषा-भाषियों को जगाने में सफल हुए। ‘साहित्य-सभा’, ‘शूर समालोचक’, ‘कला सर्वज्ञ’, ‘चादुता की चरम सीमा’ आदि लेखों की कटाक्षपूर्ण और सत्य समीक्षाओं ने हिन्दी-जगत् में एक नितान्त निर्भय एवं क्रान्तिकारी व्यक्ति का आगमन घोषित किया। उसी व्यग की निहाई पर उन्होंने अनेक कवि, कहानीकार, सम्पादक, समालोचक, लेखक तथा पत्रकार तैयार किए हैं। उनमें स्वाभिमान की मात्रा पर्याप्त थी। वे किसी के रौब या आतंक में रहना सहन न कर सकते थे। आत्म-सम्मान के रक्षार्थ ही उन्होंने दो सौ रुपये से अधिक की रेल की नौकरी पर लात मार दी थी और बीस रुपये में ‘सरस्वती’-सम्पादक बनने को प्रस्तुत हो गए थे। यह उनका आत्म-सम्मान की रक्षा तथा हिन्दी-साहित्य की सेवा के लिए अपूर्व त्याग था।

ऊपर एक पंक्ति में आचार्य जी को शुष्क कहने का साहस किया गया है। किन्तु यदि कहीं उनकी प्रौढ़ावस्था में उनके लिए कोई यह शब्द प्रयोग करता तो अपने लिए आपत्ति बुझा लेता। वृद्धावस्था में तो वे बहुत दयालु हो गए थे। वे अपने घर में काँता, बल्लम और बन्दूक रखते थे क्योंकि वे भलीभाँति जानते थे कि खरी बात कहने वाले से सब बिगड़े ही रहते हैं। जैसा कि प्रायः वे कहा भी करते थे,

“खरा कहइया दाढीजार ।” एक बार हिन्दी-कोविद रत्नमाला ने आचार्य जी को उग्र स्वभाव का ठहराया । वे बिगड़ उठे और तुरन्त ही इण्डियन प्रेस से माला लेखक को नोटिस दिलवाया । बेचारे लेखक को छपे-छपाये पृष्ठ नष्ट करने पड़े और उनके स्थान पर आपत्तिजनक शब्द-रहित दूसरे पृष्ठ लगवाने पड़े । ‘आर्यमित्र’ में किसी महाशय ने आचार्य जी को एग्लो-वर्नाकुलर पण्डित के नाम से विभूषित किया । वह इसे सहन न कर सके । उन्होंने राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा नोटिस दिलाकर उन्हें अदालती कार्रवाई करने का आदेश दिया । शीघ्र ही लेखक, सम्पादक तथा संचालक ने क्षमा माँगी और समाचारपत्र ने खेद प्रकट करते हुए सार्वजनिक क्षमा-याचना भी की । ऐसे स्वाभिमानी थे हमारे आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के निर्माता आचार्य-प्रवर पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

द्विवेदी जी का जन्म सिपाहीविद्रोह के सात वर्ष बाद दौलतपुर में हुआ था । इनके पिता पण्डित रामसहाय कम्पनी की सेना में थे और विद्रोहियों की भगदड़ में वह अंग्रेजी तोप के सामने आ गए थे । किन्तु मृत्यु के गाल में आकर भी उन्होंने अपूर्व साहस का परिचय दिया और भरी उमड़ती सतलज में कूद कर किनारे आ लगे थे । वे हनुमान-भक्त थे, अतएव उन्होंने अपने पुत्र का नाम महावीरसहाय रखा था । तेरह वर्ष की अवस्था में जब जिला-स्कूल में भर्ती होने के लिए गाँव की शाला से प्रमाण-पत्र लिया गया तो अध्यापक ने भूल से महावीरसहाय की जगह महावीर प्रसाद लिख दिया । द्विवेदी जी ने इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया और इसी नाम से ख्याति प्राप्त की । बोलचाल की बोली को खड़ी करके साहित्यिक माध्यम बनाने के प्रयत्न में वे इतने लगे रहे कि बहुत दिनों तक भाषा भी उनके नाम पर ‘महावीरी हिन्दी’ कहलाती रही । किन्तु ऐसा करने में उन्हें इतनी लडाइयाँ लडनी पड़ी कि उन्हें ‘लडाकू’ की संज्ञा भी दी गई । बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दर दास, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि कई साहित्य-

सेवियों से उनका बौद्धिक सघर्ष हुआ, किन्तु विवाद का स्तर द्विवेदी जी की ओर से कभी ओछा नहीं होने पाया। वास्तव में उनके विवाद स्पष्टवादिता, न्यायनिष्ठा और हिन्दी-हितैषिता से ओतप्रोत होते थे जिससे कि उनमें तीव्रता आ जाना स्वाभाविक था।

सन् 1905 की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा। उसमें उन्होंने प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं के उद्धरण करके उनकी भूलें दिखाईं। उनमें एक उद्धरण बाबू बाल-मुकुन्द गुप्त की रचना से भी लिया गया था। इससे गुप्त जी कुपित हुए और अपने पत्र 'भारतमित्र' में आत्माराम के कल्पित नाम से 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेख में द्विवेदी जी पर अनेक वाग्बाण बरसाए। 'भारतमित्र' और 'सरस्वती' के बीच यह झगड़ा वर्षों चलता रहा। किन्तु द्विवेदी जी ने शिष्टता और सहृदयता का सदा ध्यान रखा। जब गुप्त जी ने बैसवारे की बोली में 'हम पचन के ट्वाला माँ' लिखकर द्विवेदी जी पर व्यक्तिगत कटाक्ष किया तो क्षुब्ध होकर उन्होंने कल्लू अल्हड़त के नाम से 'सरगो नरक ठिकाना नाही' आल्हा लिख कर आत्माराम की टेटे बन्द कर दी। आल्हा की बानगी लेते चलिए—

देवी शारदा तुमका सुमिरौ, मनुआ देव महोबे क्यार,
तुमही रक्षक हौ सब जग के, बेडा खेइ लगइयो पार।
आपन कथा सुनावौ तुमका, सुनियो ज्वान अब कान लगाय,
जब सुधि आवै उन बातन की, जियरा कलपि-कलपि रह जाय।
एक्का एक पढै हम लागेन, परै लागि नित हम पर मारि,
छिन-छिन माँ लाला जाँके, कलुआ आपन हाथ निकारि।
छडी तडातड हम पै बरसै लागी, नित कम से कम बीस,
अटई डण्डा तहूँ न छाँडा, भइया अस हम रहिन खबीस।
ज्यों-त्यो कै हम पढा मुहल्ला, फिर खरीद औ बेच बेचावू,
पिचमित तरकन मत्र पढाइन, लाला रोज ढोवाइन नाझ।

फिर हम गैयन झुंझर खेरे, मच्छू मियाँ मौलवी पास,
 लागेन पढे अलिफ बे हौवा, धरम करम भा सत्यानास ।
 होति बनियई आई हमारे, को प्रभु तुमसे झूठ बताय,
 हमहूँ धिऊ बरसन ब्याँचा है, छोटी बड़ी बजारन जाय ।
 हियाँ कै बातै हियै रह गई, अब आगे का सुनहु हवाल,
 गाँव छाँडि हम सहर सिधारेन, लागेन लिखै चुटुकला चार ।

इस विवाद से गुप्त जी के मन में द्विवेदी जी के लिए बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी और वे उनके दर्शन के लिए लालायित हुए, किन्तु उनके उग्र स्वभाव से डरते थे। बहुत वर्षों बाद वे मुशी दयानारायण निगम के साथ जुही में द्विवेदी जी से मिलने आए। आते ही उन्होंने द्विवेदी जी के चरणों में मस्तक रख दिया। द्विवेदी जी ने उन्हें तुरन्त उठाकर गले लगाया। गुप्त जी ने करबद्ध होकर कहा, “मैं अपराधी हूँ, आपके सामने अभद्रतापूर्ण व्यवहारों के लिए क्षमा माँगने और प्रायश्चित्त करने आया हूँ। आप विद्या में गुरु बृहस्पति, स्नेह में आता तथा करुणा में बुद्ध सदृश हैं।” पिछली बातें भुलाते हुए द्विवेदी जी ने उनसे बड़े स्नेहपूर्वक बात की और उनके चले जाने पर वर्षों उनके हृदय की उदारता और विशालता की प्रशंसा करते रहे।

जब द्विवेदी जी ने ‘सरस्वती’ का सम्पादन आरम्भ किया उस समय बहुत कम सुशिक्षित लोग हिन्दी में लेखादि लिखते थे। जो कुछ सामग्री छपने को आती थी, वह सन्तोषजनक न थी। प्रायः द्विवेदी जी को लेखों का अद्योपान्त संशोधन करना पड़ता था। एक बार उनके एक मित्र ने द्विवेदी जी को डाक द्वारा प्राप्त एक निकृष्ट लेख को बहुत सम्हाल कर रखते देख व्यंग्य में कहा—“ऐसे हाई क्लास लेख को लौटा क्यों न दीजिए !” द्विवेदी जी ने उत्तर दिया—“भाई, अपने घर आने वाले का सम्मान करना हिन्दू मात्र का धर्म है।” वे ऐसे लेखों को अवकाश मिलने पर संशोधित करके छपने के योग्य बना लेते थे। उस समय पी-एच० डी० और एम० ए० की कौन कहे, बी० ए० और मैट्रिक पास,

हिन्दी लेखक मिलना कठिन था। किन्तु द्विवेदी जी ने एक डाक्टर महोदय के लेख को इस बात पर लौटा दिया कि उन्होंने लिख भेजा था कि “सम्पादक लेख का सशोधन करते समय कृपया उर्दू-शब्दों का प्रयोग न करें।” उत्तर में लिख भेजा, “मैं सम्पादन के सम्बन्ध में किसी की कोई शर्त स्वीकार नहीं करता।”

श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने प्रयाग जाकर द्विवेदी जी से सम्पादन-कार्य सीखने का विचार किया। उनके बहुत से मित्रों ने उन्हें समझाया कि द्विवेदी जी बड़े क्रोधी व्यक्ति हैं, उनके पास एक दिन भी टिकना कठिन है। ऐसी ही अनेक बातें उनके सम्बन्ध में सुनकर वे घबराए। किन्तु यह विचार कर कि सख्त आदमी के पास ही कुछ सीखा जा सकता है, वे इण्डियन प्रेस पहुँचे। एक कमरे में एक सज्जन कुर्सी पर बैठे लिखने में व्यस्त थे। उपाध्याय जी को आते देख सज्जन ने अपना सिर उठाया। उनका उन्नत ललाट, बड़ी-बड़ी असाधारण भौहें तथा सिंह की भाँति बिखरी हुई बड़ी मूँछों ने उपाध्याय जी को भयभीत कर दिया। जब उन्होंने चश्मे के ऊपर से भौहें फैलाते हुए आँख काढ़ कर उपाध्याय जी की ओर देखा और पूछा—“अच्छा, तो आप भी चश्मा लगाते हैं?” तब तो उनके पैरों के नीचे की धरती ही खिसक गई। वे उलटे पैरों भागना ही चाहते थे कि दो मृदुल शब्दों “आइए, बैठिए” ने उन्हें ढाढस बँधाया। तत्पश्चात् वे द्विवेदी जी के साथ बहुत दिनों तक काम करते रहे।

उपाध्याय जी द्विवेदी जी की सहृदयता, मितव्ययिता, परिश्रम-शीलता और समयनिष्ठा की बड़ी प्रशंसा करते थे और इन बातों में उन्हें महात्मा गाँधी से दूसरे नम्बर पर ही मानते थे। छोटी-से-छोटी चीज का भी वे सदुपयोग जानते थे। अखबारों तथा पत्रों पर लिपटे कागज और डोरियों को वे संहालकर रख लेते थे और आवश्यकता पड़ने पर उनको काम में लाते थे। परिश्रमी ऐसे थे कि छ महीने आगे की ‘सरस्वती’ के अंकों का मसाला पहले से ही जुटा रखते थे।

यदि दैववशात् वे बीमार हो जाएँ तो पत्रिका छः महीने बिना किसी कठिनाई के बराबर प्रकाशित होती रहे। अठारह वर्ष बाद जब द्विवेदी जी ने सरस्वती से अवकाश ग्रहण किया तब उन्होंने बख्शी जी को वे लेख भी सौंपे जो उन्हें बाबू श्यामसुन्दर दास ने चार्ज देते समय दिए थे।

द्विवेदी जी अपने समय के इतने पाबन्द थे कि किसी भी समय भी कोई कह सकता था कि द्विवेदी जी इस समय कहाँ होंगे और क्या कर रहे होंगे। एक बार एक महाशय ने द्विवेदी जी से उनके एक मित्र के घर पर मिलना ठीक न समझा। आचार्य जी ने उन्हें साढ़े तीन बजे का समय देकर उनसे अमुक स्थान पर सड़क पर मिलने को कहा। घड़ी के काँटे जब ठीक साढ़े तीन पर गए तो उधर से एक सकरी मेड की टोपी लगाए, देसी चमरौधा पहने और घुटनों के कुछ नीचे तक धोती बाँधे 'सरस्वती'-सम्पादक आ पहुँचे। उस सकरी मेड—छोटी दीवार—की टोपी पहनने का एक रहस्य था। परदुख-कातरता दूसरी की यथासम्भव सहायता करने के लिए उन्हें बाध्य करती थी। एक बार आप लखनऊ गए थे। सध्या समय बाजार में एक टोपी वाला तीन टोपियाँ लिये खड़ा था। उसकी टोपी दिन भर किसी ने न खरीदी थी। अंधेरा होते देख वह निराश हो घर की ओर चल दिया। रास्ते में आचार्य जी को देख उसने बड़े विनम्र भाव से कहा—“बाबू साहब, सारा दिन खड़े-खड़े बीत गया, पर चार पैसे चने को भी न मिले। क्या आज बच्चों को भूखा ही सुलाना पड़ेगा?” आचार्य जी को दया आ गई और उन्होंने तेरह-तेरह पैसे की तीनों टोपियाँ खरीद ली। दयालु द्विवेदी जी अपने ऊपर बहुत कम खर्च करते थे। सादा पहनकर बड़ी मितव्ययितापूर्वक अपना जीवन-निर्वाह करते थे।

सत निहालसिंह से पहले-पहल हिन्दी में लेख लिखाने वाले द्विवेदी जी ही थे। एक बार सरस्वती में आपने लिखा था, “सन्त जी से एक उलाहना है! अंग्रेजी न जानने वाले अपने देशी भाइयों को

अपनी बहुज्ञता से लाभ पहुँचाने का भी कभी उन्होंने ख्याल किया है या नहीं ? सबसे अधिक तो इसी की जरूरत है । वह क्या आपके अंग्रेजी लेखों से हो सकता है ? अपनी माँ की बोली की—अपने देश की भाषा की सेवा करना भी तो मनुष्य का कर्तव्य है ।”

अन्य लोगो को हिन्दी में लेख लिखने के लिए प्रोत्साहित करते हुए आपने सरस्वती में लिखा, “ऐसे भी कितने ही सज्जन हैं जो विद्यार्थी-दशा में तो हिन्दी के बड़े प्रेमी रहते हैं—हिन्दी लिखते भी हैं और हिन्दी-लेखकों की शिष्यता स्वीकार करने में अपना गौरव तक समझते हैं—पर वकील, बैरिस्टर, इन्स्पेक्टर, टीचर, पोस्टमास्टर अथवा ऐसे ही कोई टर हो जाने पर वे अपने सारे हिन्दी-प्रेम को उठाकर ताल पर रख देते हैं : ऐसी दशा में बेचारी हिन्दी कैसे उन्नति कर सकती है ?”

द्विवेदी जी यथासम्भव हिन्दी में ही पत्र-व्यवहार करते थे । कुछ हिन्दी जानने वाले सज्जन द्विवेदी जी को अंग्रेजी में पत्र लिखा करते थे । उनको डाट बताते हुए आचार्य जी ने एक बार लिखा था, “मुझ क्षुद्र हिन्दी लेखक को भी मेरे ही देश, नही प्रान्त, के भी कोई निवासी अपनी अंग्रेजीदानी की धाक मुझ पर जमाने के लिए अंग्रेजी में चिट्ठियाँ लिखने की कृपा कर डालते हैं । जैसे उन्हें अपनी भाषा लिखते लज्जा आती है । जो लोग हिन्दी ही में लिखकर अपनी कीर्ति-ध्वजा चारों ओर फैलाते हैं, वे भी कभी-कभी किसी अज्ञात भावना से आविष्ट होकर खानगी पत्रों में भी अंग्रेजी छाँटने लगते हैं ।” अंग्रेजी में पत्र लिखने वाले अपने एक सम्बन्धी को उसी भाषा में उत्तर देते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—“यदि दो व्यक्ति जिनमें घनिष्ठ सम्बन्ध हों, जो एक ही प्रान्त में रहते हों और एक ही मातृभाषा बोलते हों आपस में पत्र-व्यवहार करे एक छ. हजार मील दूर द्वीप की भाषा में, तो यह दृश्य देवताओं के देखने योग्य है । ऐसे अस्वाभाविक दृश्य तो ‘अभागे भारतवर्ष में ही सम्भव है ।”

पत्र-व्यवहार मे द्विवेदी जी बड़ी तत्परता बर्तते थे। जवाब अविलम्ब भेजते थे। उत्तर सक्षेप मे रहता था, किन्तु आपके प्रत्येक प्रश्न का समाधान करते थे। व्यर्थ के शब्दाडम्बर मे उन्हें पडना न आता था। 'प्रणाम' या 'आशीष' लिखकर सीधा पत्र आरम्भ कर देते थे। शब्दों मे भी उनकी किफायतशारी चलती थी। उनके पत्रों मे उनका व्यक्तित्व झलकता था। उनके दो-चार पत्रों के उल्लेख से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। बाबू मैथिलीशरण की पहली कविता के उत्तर मे द्विवेदी जी ने लिखा, "आपकी कविता पुरानी भाषा मे लिखी है।" 'सरस्वती' में हम बोलचाल की भाषा मे ही लिखी गई कविताएँ छापना पसन्द करते हैं।" यह ब्रजभाषा छोड़ खड़ी बोली मे लिखने का आदेश था। दूसरे पत्र मे गुप्तजी को लिखा—“हम लोग सिद्ध कवि नहीं है। बहुत परिश्रम और विचारपूर्वक लिखने में ही हमारे पद पढने योग्य बन जाते हैं। आप दो बातों मे एक भी नहीं करना चाहते। आपने 'क्रोधाष्टक' थोडे ही समय मे लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने मे हमारे चार घण्टे लग गए। इसे अवश्य 'सरस्वती' मे छापेगे, परन्तु आगे आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहे तो इधर-उधर अपनी कविता छपाने का विचार छोड दीजिए। जिस कविता को हम चाहेगे, उसे छापेगे। जिसे न चाहें, उसे न कही दूसरी जगह छपवाई, न किसी को दिखाइए। ताले मे बन्द करके रखिए।" प० देवीदत्त शुक्ल को लिखा था, "अवकाश मिलने पर कुछ-न-कुछ लिख भेजा कीजिए। जहाँ तक हो सके, भाषा सरल बोलचाल की हो। क्लिष्ट संस्कृत-शब्द न आने पावें। मुहावरे का ख्याल रहे। वाक्य छोटे।"

द्विवेदी जी की व्यगात्मक शैली भी देखने योग्य है। सन् 1908 मे पण्डित पद्मसिंह शर्मा को लिखा "ले डाला शर्मा जी को। अच्छा किया 'सरस्वती' को गालियाँ दे-देकर आप शेर हो गए थे। सो आपने उन्हें गीदड़ बनाने का उपक्रम किया। आषाढ के 'परोपकारी' मे आपके लेख पढ़कर शर्मा जी पर हमें बड़ी दया आई है। कृपा करके राजवैद्य

पण्डित रामदयालु जी से ज्वरघ्न रामबाण दवा शर्मा जी को भिज-वाइए। आपका लेख पढ़कर शर्मा जी को ज्वर आए बिना न रहेगा।” सन् 1914 में बाबू मैथिलीशरण को डाक्टर के० पी० जायसवाल के बारे में लिखा—“8 अगस्त के ‘पाटलिपुत्र’ में आपकी कविता पढ़ी। वही दूसरे कालमें बैरिस्टर साहब का नोट पढ़ लीजिएगा। ग्रन्थमाला की समालोचना से मतलब है। शायद दूध के नाम पानी और अनुवादकर्ता की धूल-भरी बुद्धि का चरणोदक आपने भी पिया हो। पिया हो तो पिलाने वाले को पाटलिपुत्र के जज के सुपुर्द करके सजा दिलाइए।” जान स्ट्रीट, आक्सफोर्ड से सरस्वती की प्रति लौटाते हुए एक सज्जन शिवचरण दास ने लिखा कि अमुक लेख के अन्त में जो आपने चार-पाँच शब्द बढ़ा दिए हैं, वे अनावश्यक हैं और स्पष्ट दर्शाते हैं कि दास्यभाव हम भारतीयों के मनो में पूरी तरह से बस रहा है। द्विवेदी जी ने उसके उत्तर में जो व्यंगपूर्ण चुटकी ली, वह स्मरणीय है। उन्होंने लिख भेजा—“आश्चर्य तो इस बात का है कि जिस दास्य-भाव से आपको इतनी घृणा है उसे आपने सदा के लिए अपने नाम के साथ बाँध रखा है। अस्तु।” वृद्धावस्था में भी उनका व्यंग नहीं गया था। सन् 1929 में राय कृष्णदास को लिखा, “एक बात आपकी मुझे खटकी। ‘कभी-कभी अवश्य स्मरण कीजिए।’ यह ठेना क्यों? सत्तर के घर-घाट में आपका स्मरण कल्लू और कल के बच्चे आप मुझ जरठ, अपाहिज, अशक्त और मरणोन्मुख का स्मरण न किया करे। यह कहाँ का न्याय है? बूढ़ों का सहारा या अन्धों की लकड़ी तो बच्चे ही होते हैं।”

वृद्धावस्था में भी वे पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते अथवा पढ़ाकर सुनते थे। एक बार ‘माधुरी’ का ‘उर्दू-कविता में इस्लाह’ शीर्षक लेख पढ़ा कर द्विवेदी जी ने सुना। उसमें हकीम आगाजान के गालिब की जन्म की दुरूहता पर लिखे एक किते में किंचित् परिवर्तन करके लिखा था—

वही कविता कलामय है, जिसे आलिम तो क्या समझे ।

अगर सौ बार सर मारे तो मुश्किल से खुदा समझे ॥

द्विवेदी जी ने पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा—“लेख बहुत पसन्द आया । लेखक का नाम ब्रजमोहन वर्मा है । आपके सहकारी सम्पादक का भी यही नाम है । क्या यह लेख उन्हीं का है ? उन्होंने एक मिसरे में खुदा के साथ रियायत की है । मुझे यह अन्याय खला है । मेरी राय में तो

“अगर सौ साल सर मारे तो शायद ही खुदा समझे”

यदि यह लाइन इस तरह कही जाती तो असलियत के जियादह करीब पहुँच जाती ।” ‘विशाल भारत’ में प्रकाशित सनेही जी की एक कविता अशुद्ध छप गई । द्विवेदी जी ने सम्पादक को तुरन्त लिख भेजा—“कविता में यह सशोधन क्या आपने किया है ? जो जिस विषय में नहीं जानता, उसे उस विषय में दखल नहीं देना चाहिए । कविता ठूटती, और अशुद्ध बन गई है ।” अवकाश प्राप्त कर लेने पर भी वे हिन्दी-साहित्यिकों को सचेत किया करते थे । शक्ति क्षीण होने पर ही उन्होंने अपना पत्र-व्यवहार बन्द किया था, फिर भी एक दोहा, एक श्लोक लिखवा कर भेज देते थे । वृद्धावस्था में उन्होंने एक सज्जन को लिखा था—

क्षीणशक्तिर्जराजीर्णो मन्ददृष्टिरह बुधः ।

पत्रदाने प्रदाने च न समर्थोऽस्मि क्षम्यताम् ॥

एक बार एक लेखक ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिख दिया कि “यदि उस पुस्तक में छापे की भूलें रह गई हों और मात्राओं के टूटने के कारण यदि पाठकों को कोई असुविधाएँ हो तो वे कृपया उन्हें क्षमा करें !” इस पर सम्पादक जी बिगड़ गए और ‘सरस्वती’ में आलोचनात्मक टिप्पणी के अन्तर्गत लिखा—“क्यों ? क्षमा करने का कारण ? जो पैसे खर्च करके किताब ले वह असुविधाएँ सहे । ‘यदि’ शब्द के प्रयोग से मालूम होता है कि क्षमा-प्रार्थी महाशय ने इस

बात के जानने की भी तकलीफ नहीं उठाई कि पुस्तक में सचमुच छापे की कोई भूलें है भी या नहीं।”

पं० बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ किसी ‘सजनि’ को सम्बोधित कर अपनी कविताएँ लिखने लगे थे। एक बार द्विवेदीजी की सपड़ में आ गए। मिलते ही आचार्य ने प्रश्न किया—“कह हो बालकिशन, तुम्हारि ई ‘सजनि’ को आएँ?” शर्माजी ने वार बचाना चाहा और कहा—“ई बुढ़ापा माँ आप जानि के का करिहो, दादा?” “उनते नही तुमते काम है। बुढ़ापा माँ हम तुमका रस्ता बताउब कि तुम हमका?” एकत्रित मित्रों की हँसी मे बात उड़ गई मगर आचार्य ने मधुर डाँट तो लगा ही दी थी। हिन्दी को उन्नत बनाने की दृष्टि से की गई इस डाँट-डपट और वाद-विवाद के बहुत पीछे पड़ना द्विवेदीजी को प्रिय न था। सभा के भगड़े के बाद जब बाबू श्यामसुन्दरदास उनसे बनारस मे मिले तो द्विवेदीजी बड़ी देर तक उनसे बात करते रहे किन्तु भूलकर एक शब्द से भी उन्होंने आपसी पूर्वविवाद की ओर सकेत नहीं किया।

द्विवेदीजी ने बड़े परिश्रम से अपना निजी पुस्तकालय बनाया था। उनका संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, मराठी, गुजराती, बंगला और अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य पर अच्छा अधिकार था। इन सभी भाषाओं की पुस्तकों का उनके पास संग्रह था। बहुत-सी पुस्तके बाद में उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दी थी। तिस पर भी चार-पाँच अलमारी पुस्तकों से भरी अब भी थी। उन्हें पुस्तको से बड़ा प्रेम था, कभी किसी को पुस्तक माँगे नहीं देते थे और यदि देते थे तो पात्र की उपयुक्तता का पूरा ध्यान रखते थे। एक बार लेखक के भाई ने प्रार्थना की—“आचार्यजी, अपनी कुछ विभूति मुझको भी दीजिए।” पुस्तक माँगने की ओर सकेत समझकर वे बोले—“जो तुम किचउ भरि किताब केरि कोर माँगव तौ हम नहीं दइ सकति।” एक दूसरे अवसर पर उन्होंने एक पुस्तक-याचक से कहा—“भाई जो तुम कहो तो यह छिगुनियाँ काटि के पट्टै दै देई मुद किताबन खातिन कृपा बनाए राखो।” आधुनिक

हिन्दी पत्रकारों की बहुत कम पढ़ने की आदत की चर्चा करते हुए द्विवेदीजी ने एक पत्रकार से कहा, “आप यदि हमारे पुस्तक-संग्रह को देखे, तो उसमें गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया एक्ट्स भी पावेंगे। राजनीति पर हम नहीं लिखते थे फिर भी राजनैतिक विषयों की पुस्तकों का अध्ययन करना हम आवश्यक समझते थे।” और फिर उसे डाँट बताते हुए बोले—“आखिर क्या करते रहते हो ? पढ़ते कुछ भी नहीं ? अरे भाई ! कम-से-कम दो घण्टे तो स्वाध्याय किया करो।”

सन् 1921 में द्विवेदीजी ने सम्पादन-कार्य से अवकाश ग्रहण कर लिया। उसके आठ-नौ वर्ष बाद तक वे पत्र-पत्रिकाओं में बराबर लेखादि लिखते रहे। किन्तु स्वास्थ्य अधिक खराब हो जाने के कारण उन्होंने लिखना-पढ़ना बन्द कर दिया। पेशन लेने के बाद वे स्थायी रूप से अपने गाँव दौलतपुर में रहने लगे थे और वहाँ किसानों की दशा सुधारने में दत्तचित्त हुए। गाँव में उन्होंने डाकघर, शाला, काँजीहौस, औषधालय आदि खुलवाए और ग्राम पंचायत के सरपंच आजीवन नियुक्त होते रहे। कानूनी किताबें पढ़कर वे बड़े न्यायपूर्ण फैसले देते थे जिनकी प्रशंसा जिले-भर में होती थी, ग्रामवासियों की समस्याओं को वे सुलझाते और उनका मार्ग-प्रदर्शन करते थे। रोज सुबह-शाम वे डण्डा लेकर घूमने निकल जाते और खेतों में व्यस्त किसानों की कठिनाइयाँ दूर करते। किसी नगे को अपने कपड़े दे देते थे तो भूखे को अनाज की व्यवस्था करते, बीमार को दवाई बताते तथा उद्दण्डों को रास्ते पर लाते। एक दिन एक अस्वस्थ किसान को न्योते में जाते देख वे उसकी गाड़ी पकड़कर खड़े हो लगे बैसवाड़ी में समझाने, “छाखो उहाँ कुछ अटक-संटक न खाय लीन्हो नहीं तो बहुत दिक्क होइ जइहो,” इत्यादि।

जीवन-भर अधिक मानसिक परिश्रम करने के कारण उन्हें उन्मिद्रता का रोग हो गया था और प्रायः मूर्छित भी होने लगे थे। किन्तु यह सब होते हुए भी वे अपनी दिनचर्या नियमित रूप से चलाए जाते थे।

उनकी हिन्दी-सेवाओं के लिए उनको चारों ओर से सम्मान मिला

नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ दिया, लोगो ने तथा सभा ने हिन्दी का उन्हें सर्वप्रथम आचार्य माना, हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया, साहित्यकारो ने प्रयाग में द्विवेदी मेला रचा । किन्तु वे प्रदर्शन से घृणा करते थे, ऐसे आयोजनों से दूर भागते थे । उन्होने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति होने से इनकार कर दिया, विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि दिलाने की चर्चा होने पर आपने बाबू श्यामसुन्दरदास को दिए जाने का स्वयम् प्रस्ताव किया और द्विवेदी मेला में फोटो उतरवाने की बात सुनकर व्यग्य से बोले—“भाई, मैं तो देहात का रहनेवाला हूँ । अगर जनता को फोटो उतरवाना ही है तो कम-से-कम एक कोट का इन्तजाम तो कर ही लेना ।”

द्विवेदीजी व्यंग्य एवं विनोद-प्रिय थे । उनकी व्यग्य और विनोद-प्रियता ने केवल उनके जीवन पर ही प्रभाव नहीं डाला था वरन् उनकी भाषा-शैली और उनकी रचनाओ पर भी उनकी अमिट छाप है । उस व्यंग्य की सहायता से उन्होने हिन्दी को खड़ी बोली के बल खड़ा किया था और उसी व्यंग्य के कारण वे बहुतों के प्रिय तथा अप्रिय भी बने । हिन्दी की सेवा के सम्मुख उन्हें लोगों की प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता की परवाह न थी । उनके व्यंग्य और उग्रता में एक विशेषता थी । उनके साथ-साथ दयालु ब्राह्मण की सहृदयता और शिष्टता भी रहती थी ।

मई-जून की विकट गरमी षड़ रही थी। भगवान् भास्कर अपनी प्रचण्ड मरीचियों से पृथ्वी-तल के चराचर को भस्म करने में लगे हुए थे। वायु में लू की लपटे सनसना रही थी। भिल्ली की झनकार और कोयल की कुहक बीच में निस्तब्धता को भंग कर देती थी। रह-रहकर कोई विरही चिल्ला पड़ता था “पी कहाँ ?” ऐसे समय निर्जन वन में एक अश्वारोही धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाता हुआ चला जा रहा था। उसका गेहूँएँ रंग का दुबला-पतला शरीर शेरवानी और पैजामे से ढंका हुआ था। हवा के झोंके खाती हुई उसकी छोटी दाढ़ी और ऊँचा बँधा सफेद साफा उसका व्यक्तित्व निखार रहे थे। वह इतना विचार-मग्न था कि उसे वातावरण का कुछ ध्यान ही न था। अश्व भी ग्रीवा डाले लम्बे डग नाप रहा था। सामने सघन वृक्षों का एक कुज और हरियाली देखकर वह पगडण्डी में हो लिया और शीघ्र ही शीतल छाया में आ खड़ा हुआ।

निकट ही एक कुआँ था जिस पर एक त्रिपुण्ड्रधारी पण्डित जलपान कर रहे थे। एक श्यामवर्ण के दरिद्र ने यही आकर संगम किया। अपनी जीभ से ओठ चाटते हुए आगन्तुक के सूखे वदन पर व्यग्रता और व्याकुलता के चिह्न थे। उसने करबद्ध हो पण्डितजी से जल-याचना की।

पण्डितजी ने पूछा—“कौन जात हो ?”

आगन्तुक ने उत्तर दिया—“रैदास भगत है, महाराज।”

पण्डितजी—“क्या तू मेरा लोटा अष्ट कर देगा ? चल हट बड़ा भगत बना है।”

रैदास—“दूर से पिया देता, खाली दुई घूंट, सरत हँइ, महाराज ।”

“फिर वही बात, अरे मेरा धर्म लेगा क्या ?” पण्डितजी कड़क-कर बोले और बेचारे पर जल की जगह गालियों की बौछार करने लगे । वह ‘हाय राम’ कहकर बैठ गया और बड़ी करुण दृष्टि से अश्वारोही की ओर देखने लगा । जब उनका ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ तो वे पण्डितजी से बोले—“अजी साहब, लोग तो पशुओं के लिए पौशाला चलवाते हैं और आप मनुष्य को एक लोटा जल नहीं पिला सकते ?”

त्रिपुण्डधारी ने उच्च स्वर से कहा—“लोटा अष्ट करके मैं धर्म थोड़े ही गँवाऊँगा ?”

“दूर से जल डाल दीजिये, पण्डितजी, वह बिचारा प्यास से मर रहा है ।”

पण्डितजी ने तर्क करते हुए कहा—“खूब आपने कहा, पानी की धार तो उसके मुँह में जाएगी ?”

“तो आप इसे अग्नि-शुद्ध कर लीजिएगा ।”

भौहे टेढ़ी करके पण्डितजी बोले—“ऐसा कैसे होगा ? मुझे तो एक रुपये के लोटे से हाथ ही धोना पड़ेगा ।”

“अच्छा तो आप लोटे का मूल्य ले लीजिएगा ।”

अब की पण्डितजी फिसल पड़े और धीरे से बोले—“अच्छा तो फिर एक रुपया लाइए ।”

अश्वारोही ने जेब से निकालकर एक रुपया फेंक दिया । त्रिपुण्डधारी ने उसे ठोक-बजाकर रख लिया और रैदास को पानी पिला दिया । रुपया देनेवाले ने कहा—“लोटा उस भगत को दे दीजिए ।”

पण्डितजी कुछ गिड़गिड़ाकर बोले—“तब मैं ही इसे रख लूँगा । किसी फालतू काम में आ जाएगा ।”

पण्डितजी की निर्दयता और पाखण्ड देखकर मानो अश्व चल पड़ा । दिवस का अवसान होते-होते वह आजमगढ़ आ पहुँचा । यहाँ उनकी प्रतीक्षा करनेवाले अफसरों से वे मिलने और काम करने में लग गये ।

नौ बजे रात को भोजनोपरान्त वे अपने बिस्तरे पर गए किन्तु सोये नहीं। दिन-भर घोड़े पर चढ़े जो कुछ भी वे गुनगुनाते, रहे उसे लेखबद्ध करने में जुट गए। अर्धरात्रि का घण्टा बजा किन्तु अभी भी वे उसी प्रकार लिखने में व्यस्त थे। एक, दो, तीन—ठन, ठन, ठन कोतवाली के चपरासी ने ठोंका। लेखनी हाथ से छूटकर पृथ्वी पर गिर गई और लेखक निद्रादेवी की गोद में जा पड़ा।

ऐसा अविरत परिश्रम करनेवाले यह आजमगढ़ के गिरदावर कानूनगो प० अयोध्यासिंह उपाध्याय थे। उनकी अश्वारूढ़ गुनगुनाहट एक महाकाव्य की प्रसव-वेदना थी। रात-रात-भर उस मर्मर ध्वनि को लेखबद्ध करनेवाले वे हिन्दी के कविशिरोमणि हरिऔध थे। निराला जी के शब्दों में “नौकरी पर रोज हाजिर होते हुए भी वे सदैव सरस, सरल प्रतिभाशाली कवि बने रहे”। यह असाधारण-सी बात है।

ब्राह्मणों का त्याग, विद्याव्यसन और सरलता हरिऔधजी की पैतृक विभूति थी। इनके धर्मनिष्ठ पिता और “सुखसागर” का नित पाठ सुनानेवाली माता तथा श्रीमद्भागवत-चर्चा-प्रेमी इनके चाचा ब्रह्मासिंह का इनके सुकमार भावों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पत्नी का चालीस वर्ष की आयु में देहावसान हो जाने से उसकी माधुर्यमयी स्मृतियों ने वियोगी कवि के “प्रियप्रवास” की अनेक पक्तियों को सजीवता, सरसता एवं अमरता प्रदान की है। मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर यह क्वीन्स कालेज, बनारस पढ़ने गए जहाँ अस्वस्थ हो जाने के कारण बहुत दिन न रह सके। किन्तु वहाँ की एक घटना का उनके ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक दिन कालेज के मध्य विश्राम में कुछ लड़के खेल-कूद रहे थे, कुछ बातचीत करने में व्यस्त थे, कुछ खान-पान कर रहे थे। किन्तु अयोध्यासिंह एकान्त खड़ा एक हँसते गुलाब के फूल को देखने में तन्मय था। उसे वह इतना लुभावना लगा कि उसने उसे तोड़ लिया। प्रिंसिपल साहब ने उसे ऐसा करते देख लिया और उसके पास जाकर बोले—

“तुमने यह फूल क्यों तोड़ा ?”

घबड़ाकर बालक बोला—“महाशय, यह मुझे अच्छा लगा, इसलिए तोड़ लिया ।”

प्रिंसिपल मृदुल वाणी बोले—“बच्चे ! बताओ फूल डाल पर अच्छा लगता था कि तुम्हारे हाथ में ।”

बालक ने नीची दृष्टि करके कहा—“महाशय, डाल पर ।” यह सुनकर प्रिंसिपल बड़े प्रसन्न हुए और बोले—“यदि यह डाल पर रहता तो तुम्हारी तरह अन्य लोगों के मन को प्रसन्न करता ।” इतना कहकर वह चले गए, किन्तु अयोध्यासिंह कुछ देर मूर्तिवत् खड़ा रहा । इस घटना का उन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा जो वे आजीवन न भूल सके । उनके पुष्प-वर्णनों में इस घटना की छाप स्पष्ट दिखाई देती है ।

घर लौटकर इन्होंने अपने चाचा की देख-रेख में अध्ययन आरम्भ किया । वे संस्कृत, फारसी, गुरुमुखी, काव्य तथा पिंगल आदि पढ़ने लगे । गाँव में बाबा सुमेरसिंह नाम के एक महन्त साहित्य-प्रेमी और प्रसिद्ध कवि थे । अयोध्यासिंह उनकी गोष्ठी में भी जाया करते थे । एक बार निम्नांकित पद के अर्थ पर विवाद छिड़ा—

कह कबीर खोज्यो असमान ।

राम समान न देखों आन ॥

इसमें ‘असमान’ का अर्थ विवादग्रस्त था । अपनी-अपनी उक्तियाँ सबने प्रकट की । एक सज्जन ने बताया कि इसका अर्थ आकाश-पाताल छानना है अथवा कठिन परिश्रम करके ढँढने का है । अयोध्यासिंह ने अपने चाचा की आज्ञा लेकर कहा—“कबीर साहब का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के मनुष्यों की कौन कहे मैंने बड़े-बड़े देवताओं के निवास-स्थान आकाश को भी ढँढ़ डाला परन्तु वहाँ भी मुझे कोई राम की तरह का दूसरा न दिखाई दिया ।” एकत्रित जन एक स्वर से बालक अयोध्यासिंह की सराहना कर उठे और बाबा सुमेरसिंह ने बालक की प्रतिभा और सूझ देखकर उसे अनेक पुस्तकें पढ़ने को दीं तथा कविता करने

के लिए प्रोत्साहित किया। इसी समय इन्होंने अपना संकेत-नाम हरिऔध रखा, जो ब्रजभाषा का शब्द है और अर्थ में अयोध्यासिंह का उलटा सिंह-अयोध्या है।

हरिऔधजी अपनी दाढ़ी और साफा सँवारने में कुछ समय व्यय किया करते थे। उनका एक छोटा-सा टीन का हरा या नीला बक्स था उसी में उनके लिखने-पढ़ने की तथा अन्य सामग्री रहती थी। लाल और नीली स्याही की दवातों और कलमों से भरा कलमदान उनके सदर कानूनगो होने की याद दिलाता था। स्वाभाविक रूप में उनकी दाढ़ी रजपूती लगती थी किन्तु वे उसके दोनों किनारों को मिलाकर नीचे लम्बी नोक सी उमथ दिया करते थे। एक बार मैंने उनसे प्रश्न किया कि पण्डितजी आपने दाढ़ी किस आयु से रखना आरम्भ किया? तो वे बोले—“मैं आजन्म सर्वकेशी रहा। इसका भी एक रहस्य है। तमसा-तट वासी एक साधु-महात्मा के इस आदेश पर कि ब्राह्मण को सर्वकेशी होना चाहिए या मुक्तकेशी, मेरे पिताजी ने घर के ज्येष्ठ पुत्र को सर्वकेशी रखा। किन्तु इस मुच्छहीन युग में तो मैं ही इस प्रथा का अंतिम पोषक हूँ।”

काशी में संकटमोचन के आगे सकटहरण नाम का एक स्थान है। वही बगीचे के वृक्षों से आच्छादित एक बँगले में हरिऔधजी रहा करते थे। उसका प्राकृतिक सौन्दर्य और बिहगावलि का कलरव उन्हें बहुत पसंद था। सबेरे तड़के उठकर ही वे लिखने-पढ़ने का कार्य आरम्भ कर देते थे और जाड़े में धूप निकलते ही छत पर जाकर बैठ जाते थे जहाँ से प्रकृति का आनन्द उठाते हुए वे प्रायः नौ-दस बजे तक अपने कार्य में व्यस्त रहते थे। कोयल की कुहुक और पपीहा की पुकार सुनने के लिए रुक जाते थे। किसी के कण्ठ से सगीत सुन वे तन्मय हो जाते थे। रास्ते में चलते व्यक्तियों का बिरहा या गीत सुनने के लिए कभी-कभी वे बड़ी दूर तक उसका पीछा करते और आनन्द लेते थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि “घन पटल का वर्ण वैचित्र्य, शस्य श्यामला धरित्री, पावस की प्रमोदमयी सुषमा, विविध बिहगावली, कोकिल का कलरव, पक्षिकुल

का कलनिनाद, शरद ऋतु की शोभा, दिशाओं की समुज्ज्वलता, ऋतुपरिवर्तन-जनित प्रवाह, अनन्त प्राकृतिक सौंदर्य, नाना प्रकार के चित्र, विविध वाद्य, मधुर गान, ज्योत्स्ना-रंजित यामिनी, तारक-मंडित नील नभोमण्डल, सुचित्रित विहगावली, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्धकर दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम पुष्पचय मेरे आनन्द की अत्यन्त प्रिय सामग्री है। किन्तु पावस की सरस छवि, बसन्त की विचित्र शोभा, कोकिल की कुहुक और किसी कलकण्ठ का मधुर गान, वह भी भावमयी कविता-वलित, मुझको उन्मत्त-प्राय कर देते हैं।”

किन्तु ऋतु के प्रकोप से उनका चित्त मलिन हो जाता था। यदि बादलों ने आकाश को कई दिन आच्छादित रखा तो वे तारे देखने के लिए आतुर हो जाते थे। तारे निकलने की सूचना पाते ही बड़े प्रफुल्लित हो उठते थे। वर्षाकाल में बादल न आने पर वे बड़े दुःखी होते थे और यदि कहीं एक-आध घनखण्ड दिखाई दिया तो उनकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती थी। किन्तु यदि वायुवेग उसे उड़ा ले जाय तो उनकी निराशा ऋतु की विषमता और उसमें मानव की विवशता पर भावपूर्ण भाषा में व्यक्त होने लगती थी। प्रकृति, संगीत तथा सौन्दर्य का उनके प्रभावशाली हृदय पर तुरन्त असर पड़ता था, जो अनायास ही उनके मुख से मुखरित हो उठता था।

हरिऔधजी हिन्दू जाति और धर्म के बड़े भक्त थे। वे लोक और समाज को ही भगवद्भजन मानते थे और मातृभाषा की सेवा को भी उसी के अन्तर्गत समझते थे। ब्राह्मणों के पतन, ललनाओं के अपहरण और अछूतों के तिरस्करण के प्रति अपनी वेदना व्यक्त करते हुए उनका स्वर कर्ण हो जाता था और समाज को उस शोचनीय दशा से ऊपर उठाने पर जोर देते थे। चोखे और चुभते चौपदों में उन्होंने ऐसे बहुत-से विषयों पर प्रहार किया है।

हरिऔधजी बड़े सहृदय, संकोची और शंकालु स्वभाव के थे। ने

इतने मिलनसार थे कि छोटे-से-छोटा व्यक्ति भी उनकी सहृदयता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता था। अतिथियों को किसी प्रकार का कष्ट न हो पाए इसके लिए उनके गुप्तचर नियुक्त थे और इतनी पूछताछ करते थे कि अतिथि भी घबड़ा उठता था। सकोची इतने थे कि कभी किसी की प्रार्थना को स्पष्ट रूप से अस्वीकार नहीं करते थे। समयाभाव होने पर भी नये कवियों को प्रोत्साहित करने को समय निकालते, हृष्ट-पुष्ट भिखमगो की भर्त्सना करते हुए भी उन्हें पैसे देते और तबियत खराब होने पर भी आगन्तुक से बिना बात किए न मानते।

एक बार उनके सेवक ने नये कपड़े पहनना आरम्भ किया। दैवयोग से उसी के दो-चार दिन पहले हरिऔधजी ने समाचारपत्र में पढ़ा था कि किसी कपड़े की दूकान में चोरी हो गई है। बस, उनको शक हुआ कि कहीं उनके सेवक ने ही तो वे चोरी के कपड़े नहीं बनवाये हैं। दिन में पच्चीसो बार पूछते—“भाई, तुम्हारे पास पैसा कहाँ से आया जो नया परिधान पहने हो, कितने में सिलाया है, कहीं किसी का मार तो नहीं दिया ?” इत्यादि पूरी जिरह होने लगी। उन्हीं दिनों के बीच एक हट्टा-कट्टा साधु भिक्षा लेने आया तो हरिऔधजी ने उसे पुरुषार्थ करके कमाने पर जोर देते हुए भिक्षा दे दी। किसी ने कह दिया—“पण्डितजी, यह सी० आई० डी० मालूम होता है।” लो, अब उसी की उधेड़बुन में लगे—“भाई यहाँ सी० आई० डी० के आने का क्या काम ? आप लोग कोई काम सरकार-विरोधी तो नहीं कर रहे हैं ? कोई हमारे यहाँ आने-वालों में क्रान्तिकारियों से तो नहीं मिला है ? जब्तशुदा पुस्तक तो कोई यहाँ नहीं है ? मालूम पड़ता है इस सेवक का कपड़े की दूकान की चोरी में कुछ हाथ है !” इत्यादि अनेक उधेड़बुनों में लग जाते और ऐसे मिथ्या सन्देहों के चक्कर में मड़कर कई दिनों तक बड़े दुःखी रहते।

बहुत दिनों तक सरकारी नौकर रहने के कारण वे कुछ सरकार-भक्त हो गए थे। शासन का विरोध करना उन्हें उचित न जान पड़ता, “सरकारी सभाओं के निमन्त्रण आने पर ठीक समय पर पहुँचते और

समाचारपत्रों में प्रकाशित उसके आदेशों का पालन करने के लिए तत्पर रहते थे। सरकार द्वारा आयोजित कविसम्मेलनों में अवश्य जाते थे। आयु अधिक होने पर उन्होंने ऐसे आयोजनों का सभापतित्व करना छोड़ दिया था। एक बार बड़ा आग्रह करने पर कलकत्ता के कविसम्मेलन में गए। लौटते समय जब आयोजक सेठ ने उन्हें सफरखर्च के लिए सौ रुपये का नोट दिया तो उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि वे सभापतित्व का मूल्य नहीं लेते। स्टेशन पर गाड़ी छूटने पर सेठजी ने नोट पण्डितजी के चरणों में रखते हुए कहा—“यदि आप इसे स्वीकार न करेंगे तो मुझे बड़ा दुःख होगा, शायद मेरा दम निकल जाए।” अन्त के शब्दों से पण्डितजी घबड़ा गए और एक बार दृढ़ता के साथ फिर नहीं कहते-कहते रह गए। इतने में गाड़ी चल दी किन्तु बाद में इस घटना को याद करके वे कहते थे—“कविसम्मेलनों से यह मेरी पहली और अन्तिम कमाई थी।” हरिऔधजी के कुछ ग्रन्थों को देखकर छत्तरपुर के महाराज ने मिलने के लिए उत्कण्ठा दिखाई। अपने दीवान पण्डित श्यामबिहारी मिश्र से पत्र लिखाया। स्वयं पत्र लिखा, किन्तु सरकारी नौकरी की परवशता के कारण वे न जा पाए। कारण जानते ही महाराज ने आजमगढ़ के कलक्टर को तार देकर हरिऔधजी को छुट्टी देने का अनुरोध किया। छुट्टी मिली और हरिऔधजी छत्तरपुर गए जहाँ उनका बड़ा सम्मान किया गया।

समाचारपत्र पढ़ना उन्हें बड़ा रुचिकर था। ‘आज’ में मुद्रित प्रत्येक शब्द वे पढ़ डालते थे। वे उसे विज्ञापन, मुद्रक और प्रकाशक के नाम सहित आद्योपान्त पढ़ते थे और फिर ‘लीडर’ के हेडिंग देखते थे तथा अन्य लोगो से पूछते रहते थे कि आज ‘लीडर’ में क्या विशेष समाचार प्रकाशित हुआ। प्रायः देखा जाता था कि उनके ‘आज’ की प्रति के एक कोने में ‘महाराजलाल’ का नाम लिखा रहता था। यह नाम देखकर लोगो को कौतुक हुआ। अतएव एक दिन किसी ने उनसे पूछा कि यह महाराजलाल कौन है जिनका नाम आप अखबारों के कोने

पर लिख देते हैं। हरिऔधजी हँसकर बोले—“जब कभी मैं नई निब से लिखना आरम्भ करता हूँ तो उसे अजमाने के लिए अखबार पर यह नाम लिख देता हूँ। मालूम नहीं क्यों? महाराजलाल मेरा पटवारी था। बड़ा सीधा-सादा आदमी, मेरा बड़ा भक्त था। मेरी बड़ी सेवा सुश्रूषा करता था। उसकी स्मृति शायद मैं भूल नहीं पाता।”

जब संस्कृत वृत्तों में लिखित अतुकान्त संस्कृति-संज्ञित खड़ी बोली का प्रियप्रवास प्रकाशित हुआ तो हिन्दी जगत् में तहलका-सा मच गया। उसकी कोमलता और सरसता का ऐसा प्रभाव हुआ कि पण्डित श्रीधर पाठक ने उसी शैली में अपनी सम्मति लिख भेजी—

दिवस के अवसान समै मिला ।
 प्रियप्रवास अहो ! प्रिय आपका ॥
 अमित मोद हुआ चल चित्त को ।
 सरस स्वादुयुता कविता नयी ॥
 कवि वरेण्य ! अनूपम धन्य है ।
 सुशचिरा रचना यह आपकी ॥
 मधुरिमा मृदु मजु मनोज्ञता ।
 सुप्रतिमा छविपुज प्रभामयी ॥

× × ×

यह अवश्य कवे ! तव होयगी ।
 कृति महा कवि-कीर्ति प्रदायनी ॥

जिस समय हरिऔधजी अपने उपन्यास लिख रहे थे उसी समय रसकलश भी पूर्ण किया जा रहा था किन्तु उसे उन्होंने लिखने के पन्चीस-तीस वर्ष बाद प्रकाशित किया। वृद्ध कवि के हाथ रस बरसता देख कुछ लोग ‘बुढ़भस’ कहकर चिल्लाए। यहाँ तक कि आचार्य महावीरप्रसाद ने भी इसे बुढ़ापे की कृति समझकर अपनी चिरविश्राम-प्राप्त लेखनी की नोक से खीझ-खरोच ही तो दी—

सिर सूनो, पग पानही, ऐठे दाढ़ी सेत ।

यह बानक मो मन बसो, कवि रसकलस समेत ॥

हरिऔधजी की कृतियों में एक विचित्रता है। उन्हें देखने से भ्रम हो सकता है कि वे तीन पृथक् व्यक्तियों की रचनाएँ हैं। व्रजभाषा से खड़ी बोली, संस्कृत-गर्भित भाषा, तदनन्तर तद्भव बोलचाल में उत्कृष्ट रचनाएँ एक ही व्यक्ति कैसे प्रस्तुत कर सकता है। जो लोग हरिऔधजी की विद्वत्ता और उनकी उस आदत से जो किसी भी प्रयोग को हृद तक पहुँचाकर अनुकरणीय बनाती रही है, परिचित है वे ऐसे भ्रम में कभी न पड़ेंगे। डाक्टर गियर्सन की प्रेरणा से जब 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' लिखा तो फिर स्त्री, हवा, स्मरण, आनन्द के स्थान पर तिरिया, बयार, सुरति और हरस शब्दों की भरमार कर दी। भूमिका में जब संस्कृत-सज्जित भाषा पर आए तो दूसरी ही छटा देखिए—

बालार्क अरुण राग रंजित प्रफुल्ल पाटल प्रसून, परिमल
विकीर्णकारी मन्दवाही प्रभात समीरण, अतसी कुसुमदलोपमेय
कान्तिनव जलधर पटल, पीयूष प्रवर्षणकारी सुपूर्ण शुभ्र शारदीय
शशाक रवि-किरणोद्भासित वीचि विक्षेपण शीला तरंगिणी,
श्यामल तृणवरण परिशोभित उत्तुग शैल शिखर श्रेणी,
नव किशलय कदम्ब समलकृत वासतिक विविध विटपावली
कोकिल कल कलंकीकृत कण्ठ समुत्कीर्ण कल निनाद, अत्यन्त
मनोमुग्धकर और हृदयतलस्पर्शी हैं ।

जहाँ प्रियप्रवास में “रूपोद्धान प्रफुल्लप्राय-कलिका राकेन्दु बिम्बानना” के समान कठिन समास पदावली है वही सरल-से-सरल शब्दों में भी भाव व्यक्त किया गया—

सखि भय यह कैसा गेह में छा गया है,
पल-पल जिससे मैं आज यों चौकती हूँ,
कँपकर गृह में की ज्योति छाई हुई भी,
छन छन अति मैली क्यो हुई जा रही है ।

मुहावरों के प्रयोग पर आए तो “बाल से तलवे तक जितने अंग है उन तमाम अंगों के बहुत-से मुहावरे पंक्ति-पंक्ति में ठूस-ठूसकर भर दिए।” मुंह को ही देखिए—

हम तरसते हैं खुले मुंह आपका ।

मुंह हमारा आप क्यों सी रहे ॥

आप तो मुंह भर नहीं है बोलते ।

आपका मुंह देख हम हैं जी रहे ॥

बात कैसे बता सके तेरी ।

हैं मुंहो में लगे हुए ताले ॥

बांवले बन गए न बोल सके ।

बाल की खाल काढने वाले ॥

“उर्दू कविता में मुहावरों का प्रयोग बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। जब मैंने कविता हिन्दी में लिखना आरम्भ किया तो मित्र लोग कहते थे कि हिन्दी में कविता क्या लिखोगे उसमें बोलचाल की फड़कती भाषा आ ही नहीं सकती। तभी मैंने सरल मुहावरेदार भाषा में हिन्दी कविता करने के लिए कमर कसी।” हरिऔधजी एक दिन अपने चौपर्दा की चर्चा करते हुए बताने लगे—“हिन्दी भाषा के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने मुझसे कहा कि मैं चौपर्दों की भाषा को हिन्दी नहीं कह सकता। उन्होंने कहा, उर्दू भी नहीं कह सकता। मैंने कहा कि हिन्दुस्तानी कहिए। उन्होंने कहा कि इसको हिन्दी-उर्दू के बीच की भाषा कह सकता हूँ। मैंने कहा कि हिन्दुस्तानी ऐसी ही भाषा को कहते हैं। उन्होंने बताया कि हिन्दुस्तानी में उर्दू का पुट अधिक रहता है, इसमें हिन्दी का पुट अधिक है। मैंने निवेदन किया कि फिर आप इसे हिन्दी ही क्यों नहीं मानते? उन्होंने उत्तर दिया कि चौपर्दा की बहल उर्दू, उसके कहने का ढंग उर्दू, उसमें उर्दू की ही चासनी और उर्दू का ही रंग है; उसकी भाषा चटपटी भी वैसी ही है, उसे हिन्दी कहूँ तो कैसे कहूँ? अब बताइए, पण्डितजी, चौपर्दों की भाषा भी तय करना मुश्किल हो रहा है।” हरिऔधजी को

अपने 'चौखे चौपदे' से इतनी अधिक ममता थी कि वे उसे प्रियप्रवास से अधिक ऊँचा स्थान देने को तत्पर थे ।

टल सकेगे न प्यार से तिल भर

आँख के तिल स्नेह से डूबे ।

मगर सनेहीजी एक बार कहने लगे—“प्रियप्रवास मैंने अभी तक दस बार पढ ढाला है न जाने कै बार और पढ़ूंगा । यही तो कविता है ।”

हरिऔधजी कविता की चर्चा करते हुए कहा करते थे—“मगर पण्डितजी, क्या कमाल हासिल था उर्दू शुअरा को । उनके एक-एक शब्द में चमत्कार भरा था । देखिए ना—

जान जाएगी निकल तन से नसीम,

गुल को बूए गुल हवा बतलाएगी ।

‘गुल को बूए गुल’, कितना सुन्दर कहा है, पण्डितजी, और फिर ‘हवा बताना’ क्या मुहावरा है । गागर में सागर भर दिया है ।

“यह एक और शैर देखिए, पण्डितजी ! बिहारी ने इसी भाव को ऐसे व्यक्त किया है गालिब की सूझ भी अनोखी है, देखिए फिरदौसी क्या फरमाते हैं । रवि बाबू की कितनी सुकुमार उक्ति है और मैंने भी कितने अटपटे ढंग से इसे बाँधा है आपकी अंग्रेजी में ऐसा खयाल किसी ने व्यक्त किया है क्या ?” इस प्रकार घण्टो हरिऔधजी साहित्यिक चर्चा किया करते थे और हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी, बंगाली और यदा-कदा अंग्रेजी की कविताएँ एक ही भाव को व्यक्त करनेवाली सुनाते और उनका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए हर एक की विशेषता बताते ।

संकटहरण की अटारी का वह दृश्य चिरस्मरणीय रहेगा । शिशिर के प्रभात में दिनमणि की किरणों “छूट किसी अवरोधक कर से छिटक-छिटक धरती पर” आ रही थी । हरिऔधजी का कंधा उनके बालों को सँवार रहा था । मुझे देखते ही बोले—“आइए, मैंने आप लोगों की बात पूरी कर दी । वैदेही-बनवास छपने गया है । मगर पण्डितजी,

लोकाराधन कितना दुष्कर कार्य है। जनकनन्दिनी दोषमुक्त होते हुए भी निर्जन बन में भेजी गई। एक रजक के निन्दनीय उद्गार का राम पर इतना प्रभाव पड़ा कि सती-साध्वी सीता की शोचनीय अवस्था का लेशमात्र भी विचार न किया। मर्यादा-पुरुषोत्तम नृपकर्म से कैसे विचलित होते। किन्तु जनकदुलारी को कंटकाकीर्ण मार्ग में पटकना पड़ा। लोकाराधन के लिए अपना और सीता दोनों का ही सुख समाप्त करना पड़ा.....” महाकवि की वाणी क्षीण हो गई, कण्ठ अवरुद्ध हो गया, अविरल अश्रुधारा उनके श्वेत श्मश्रु पर होकर बहने लगी। वे रुक-रुक वैदेही के बनवास की कथा अश्रुओं की लड़ियों में पिरोने लगे। इस करुण दृश्य को जब न देखते बना तो मैंने कहा—“वैदेही-बनवास कब तक प्रकाशित हो जाएगा।” “यही दो-तीन महीने में।” “तब पण्डितजी, मैं उसे स्वयं पढ़कर ही आनन्द लूंगा। पहले से सुन लेने में ठीक न रहेगा।”

काशी से हरिऔधजी अपने घर आजमगढ़ में जाकर रहने लगे थे। वृद्धावस्था में स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण लिखना-पढ़ना कठिन हो गया था। फिर भी वे नित्य एक दोहा सोचकर उसे लेखबद्ध कर लेते थे। इन दोहों का संकलन हरिऔध सतसई के नाम से हुआ है, जिसके अन्त का एक दोहा किञ्चित् परिवर्तन करके उनके सम्बन्ध में कहा जा सकता है—

अमल धवल आनन्दमय, सुधा सिता सुमिलाप ।

है कमनीय मयंक सम, कवि तुम कीर्ति कलाप ।

महात्माजी

जीवन की गभीरता और सांसारिक क्रिया-कलापों की दुरूहता से अवकाश पाने के लिए मनुष्य हास्य का सहारा लेता है। हास्य-शक्ति आनन्द का एक अविरल स्रोत है जो समय-समय पर आसपास के जीवन को प्रफुल्लित किया करता है। स्वदेश-चिन्ता-मग्न महात्मा गांधी के लिए अपने चित्त को हल्का करने का हास्य ही एकमात्र सहारा था। उन्होंने एक बार कहा भी था—“विनोद ही मेरा जीवन है, मुझमें विनोद न होता तो मैं कभी का खत्म हो गया होता।” महात्माजी बड़े विनोद-प्रिय और हास्यप्रेमी थे। उनका हास्य उनके अपने ढंग का था। उसमें बालकों का भोलापन और संतों की सरलता थी। सत्य और अहिंसा का यह पुजारी भला कटाक्ष और व्यंग्य कैसे कर सकता था। उनका विनोद प्रायः भाष्य और परिस्थितियों का हास्य होता था, जिससे सभी सुनने-वाले खिल उठते थे। जिस प्रश्न का उत्तर देना उन्हें अभीष्ट न होता था उसे वे सारगर्भित विनोद में उड़ा देते थे। प्रश्नकर्ता अवाक् अवश्य रह जाता था किन्तु उसे क्षोभ अथवा दुःख न होकर उनके साथ भरपेट हँसने का अवसर मिलता था। उनके ऐसे उत्तरों में भी जीवन के किसी आदर्श का प्रतिपादन होता था। व्यक्तिगत प्रश्नों के उत्तरों में तो उनके जीवन के सिद्धान्त चरितार्थ होते थे। वे स्वयं भी कहा करते थे—“मेरे मजाक में भी हमेशा गम्भीर अर्थ रहता है।”

एक अवसर पर एक पत्रकार यह जानने के लिये कि वे रेल के तीसरे दर्जे में क्यों यात्रा करते हैं, उनके पीछे ही पड़ गया। उसके कई बार पूछने पर कि—“महात्माजी, आप तीसरे दर्जे में क्यों चलते हैं?”

गाधीजी ने उसे बता ही दिया—“इसलिये कि चौथा दरजा नहीं है।” भारतीय दरिद्र किसान की इस मूर्ति को कम-से-कम व्यय के सिद्धान्त पर आरूढ़ देखकर पत्रकार चुप रह गया।

लदन की गोलमेज परिपद् में सम्मिलित होने के लिये जाते समय अनेक व्यक्तियों ने महात्माजी से प्रश्न किया कि वे लदन में कौन-से कपड़े पहनेंगे। ब्रिन्डसी में चारों ओर से यही प्रश्न होते देख उन्होंने लोगों की जिज्ञासा शान्त करने के लिये कहा—“क्यों भाई, तुम अपने देश में प्लस-फोर पहनते हो मैं माइनस फोर पहनूंगा।” इस भारतीय नगे फकीर के लिये जिसने ससार के सभी वस्त्राभूषणों का ऋण करके लँगोटी लगाना आरम्भ किया था और अधिक उपयुक्त उत्तर क्या हो सकता था।

कांग्रेस कार्यकारिणी के एक अधिवेशन में एक छोटी समिति बनाने के लिये नाम प्रस्तावित हुए। सयोगवश उसमें निर्धारित सख्या से अधिक नाम आ गये। किसी को भी अपना नाम वापस न लेते देख महात्माजी ने कहा कि सब लोग अपना नाम वापस ले लें और फिर से प्रस्ताव हों। आदेश का पालन हुआ और फिर नाम आए। किन्तु दुबारा भी दो-एक नाम आवश्यकता से अधिक थे। प्रत्येक व्यक्ति की समिति-सदस्य बनने की आकांक्षा के कारण वातावरण गभीर था। महात्माजी ने सूची पढ़ी और उसमें श्रीमती जुत्शी का नाम देखकर उनसे पूछा—“अरे लूडो रानी, तुम्हारा नाम फिर आ गया?” श्रीमती जुत्शी सहमकर बोली—“बापू, मैंने तो अपना नाम वापस ले लिया था किन्तु क्या करूँ, कुछ पुरुषों ने बड़ा दबाव डाला और मैं बेबस हो गई।” महात्माजी ने चश्मे के ऊपर से देखते हुए कहा—“ना, ना, पुरुषों के दबाव में कभी समर्पण नहीं करना चाहिए, लूडो रानी।” सब कहकहा मारकर हँस पड़े। गम्भीर वातावरण काफूर हो गया, कुछ नाम वापस हुए। अधिवेशन का कार्य आगे बढ़ा। किन्तु महात्माजी ने नारियों के लिये कितने सिद्धान्त की बात कही थी उसका स्मरण करके कुछ लोग हँसते ही रहे।

एक धनकुबेर ने महात्माजी के हाथ में लाखों की थैली रखते हुए कहा—“महात्माजी, इस दान में एकमात्र शर्त यह है कि यह मुसलमानों और हरिजनो के अर्थ न आये।” “तब तो आपको कोई दूसरा महात्मा ढूँढना पड़ेगा,” गांधीजी ने अन्यमनस्क होते हुए कहा और धूम पड़े। हरिजनो के लिए एक-एक पैसा एकत्र करनेवाले इस महात्मा को लाखों के दान पर लात मारते लेश-मात्र भी संकोच न हुआ।

सहज सहृदय महात्माजी किसी के हृदय को चोट पहुँचाना उचित न समझते थे। जो उनके दर्शनार्थ पहुँचता था उससे मिलते थे चाहे वे दो ही चार क्षण क्यों न बात करे; यद्यपि उनका समय बहुमूल्य था और वे उसका अपव्यय न कर सकते थे। ऐसे अवसरों पर मनुष्य का प्रयोजन सम्भरकर वे उसे एकआध वाक्य, मधुर मुस्कान तथा संकेतादि से संतुष्ट कर दिया करते थे।

एक दर्शनाभिलाषी आयुर्वेदाचार्य से मिलते ही उन्होंने प्रश्न किया—“आपके पास कोई छुआछूत की दवा है?” और हँसकर चल दिये। किन्तु एक ज्योतिषी महाशय के उलटे रोजे गले पड़े। उन्होंने चाहा कि महात्माजी की हस्तरेखायें देखकर कुछ भविष्यवाणी करें। महात्माजी ने हाथ फैला दिया। ज्योतिषीजी ने बड़े कौतुक और गर्व से उसे देखना आरम्भ किया ही था कि महात्माजी बोले—“मैं हरिजन सेवक हूँ। मेरा समय बहुमूल्य है। हाथ देखिये नहीं, उस पर कुछ रखिये।” ज्योतिषी महाराज गाँठ के सौ रुपये उस पर रखकर उनके मुख की ओर देखते अवाक् रह गये।

एक अमेरिकन पत्रकार को कोई विशेष बात न करनी थी, किन्तु महात्माजी से कुछ बात अवश्य करनी चाहिये यह सोचकर उसने विश्व-शान्ति के सबन्ध में चर्चा आरम्भ की। महात्माजी ताड़ गये और बोले—“भाई, मैं तो कूपमण्डूक हूँ; मेरे लिए सारा विश्व भारत में ही है, सेगाँव में है।” कितनी सत्य बात थी और कितना भूचक बाण। पत्रकार नत्मस्तक हो चल दिया।

एक दूसरे सज्जन भी उसी तरह महात्माजी का समय लेना चाहते थे। उन्होंने पूछा—“क्या अगले महीने में कोई महत्वपूर्ण बात होगी?” “किसी आतिशबाजी की आशा न रखिये” कहकर महात्माजी ने टालना जाहा।

“क्या कोई भी उपद्रव नहीं होगा?”

“हाँ, यदि ब्रिटिश अफसर चाहेंगे तो उनकी इच्छा-पूर्ति अवश्य होगी।” बात आगे न बढ़ते देख उसने गांधीजी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया। “इस पेंसिल की भाँति मध्यवर्ती”, कहते हुए महात्माजी ने अपने हाथ की पेंसिल उसके सामने कर दी जिस पर छर्पा हुआ था ‘मिडलिंग’।

महात्माजी में कर्त्तव्यनिष्ठा अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। जिस बात को वे अपना कर्त्तव्य समझते थे अथवा जो दृढ़ निश्चय कर लेते थे उसे प्राणों की बाजी लगाकर पूरा करते थे। वे दूसरों से भी यही आशा करते थे और किसी को कर्त्तव्य में ढीला देख तुरन्त उसकी खबर लेते थे।

एक बार उन्होंने दीनबन्धु एण्ड्रयूज को बंगाल के पीडितों की सहाय-तार्थ भेजा। मार्ग में ज्वर आ जाने के कारण वे प्रयाग में विश्राम लेने लगे और महात्माजी को तार दिया—“ज्वर मे पड़ा हूँ; प्रयाग रुक गया।” तुरन्त ही उत्तर आया—“ज्वर मे पड़ने का तुम्हे कोई काम नहीं; आगे बढ़ो।” वे दीनबन्धु थे, दीनों के हित के सम्मुख उन्हें अपने कष्ट का ध्यान न होना चाहिए, अतएव वे चल पड़े।

इसी प्रकार डाडी-यात्रा के समय उन्होंने कर्मवीर सुन्दरलाल से कहा कि उनकी यात्रा-पर्यन्त वे बम्बई जाकर लोगों को ऐसा समझाएँ कि साम्प्रदायिक झगड़े न हो सकें। कई दिन लगातार स्थान-स्थान पर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य पर भाषण देने के कारण उनके कण्ठ में कष्ट हो गया और मुँह सूज आया। अपनी दयनीय दशा दिखाकर अवकाश प्राप्त करने की फिराक में वे महात्माजी से डाडी-मार्ग पर मिले। चकिल

होकर महात्माजी ने पूछा—“तुम यहाँ कैसे ? तुम्हारा स्थान तो बम्बई है ।” श्री सुन्दरलाल ने कहा—“मेरी हालत खराब है । मैं मर रहा हूँ.....” बीच में ही बात काटते हुए महात्माजी बोले—“तो फिर अपने स्थान पर कर्तव्यारूढ़ मरना गर्व की बात होगी । तुरन्त वापस जाइए और वहीं मरिए ।” कर्मनिष्ठ की डाँट से कर्मवीर को साहस हुआ और वे दूसरी गाड़ी से बम्बई वापस आए । साथ में उनके महात्माजी का एक पत्र बम्बई के एक प्रसिद्ध डाक्टर के नाम था—“इन्हे तुरन्त निरोग कीजिए; इन्हे बीमार होने की फुरसत नहीं ।”

महात्माजी अपने समय का अपव्यय न होने देते थे । जीवन के छोटे-छोटे कार्यों में वे उतने ही समयनिष्ठ थे जितने राजनीति के बड़े-बड़े मामलों में । इसका प्रमाण एक छोटी-सी वायसराय भवन की घटना से मिलता है । कांग्रेस और सरकार की सन्धि-वार्ता चल रही थी । कुछ दिनों की बातचीत के पश्चात् यह प्रतीत हुआ कि गांधीजी और वायसराय के मतों में बड़ा अन्तर है । एक दिन चलते समय वायसराय ने पूछा—“क्या अब हम फिर मिलेंगे ?” महात्माजी ने उत्तर दिया—“यदि अब कोई नये प्रस्ताव नहीं करना है तो हम एक-दूसरे का समय क्यों नष्ट करें !” वायसराय ने बिदा लेते हुए पूछा—“आप सेगाँव कब जा रहे हैं ?” “यदि हो सका तो आज ही शाम को । किन्तु जब तक आपको मेरी आवश्यकता है मैं आपकी सेवा में हूँ । यदि नहीं तो मैं तुरन्त सेगाँव भाग जाना चाहता हूँ । मेरा मन वही लगा है । मैं वहाँ कुछ बीमार छोड़ आया हूँ । मुझे उनकी सेवा में बड़ा आनन्द मिलता है । समस्त देश की राजनीति और एक रूग्ण की सेवा को एक पलड़े में तौलते देख वायसराय चुप हो गए ।

गांधीजी स्नान करते समय साबुन आदि का प्रयोग न करके एक खुरदरा पत्थर काम में लाते थे । नोआखाली की यात्रा में यह पत्थर पिछले गाँव में रह गया और गांधीजी आगे के गाँव में पहुँच गए । मनु बहिन ने जिन पर सामान की देख-रेख का भार था स्नान की

तैयारी करते समय यह भूल देखी और सूचना दी। कुछ सोचने के बाद वे बोले—“तुमने भूल तो की, तुम खुद ही जाओ और उस पत्थर को ढूँढ़कर ले आओ।” मनु ने कहा—“बापू, क्या मैं एक स्वयंसेवक साथ मे ले लूँ?” “क्यों?” उच्च स्वर में प्रश्न हुआ। मनु अवाक् होकर चल दी। पिछले गाँव का मार्ग नारियल और सुपारी के जगलो से होकर निर्जन और उजाड़ था जिसमें गुण्डों के आक्रमण का भय था। राम-राम करते पद-चिह्नों के सहारे वह गाँव में पहुँची। वहाँ जिस जुलाहे के घर में महात्माजी ठहरे थे पता लगाने पर मालूम हुआ कि उसकी बुढ़िया ने पत्थर फेंक दिया है। घबडाई हुई मनु ने उसे बड़ी तत्परता से ढूँढ़ ही तो लिया और लेकर वापिस हुई। सहमी और सिसकी हुई जब वह बापू के सामने खड़ी हुई तो बापू बोले—“यह पत्थर पच्चीस साल का साथी है। ऐसे बहुत-से पत्थर मिल जाएँगे इस विचार से बेपरवाह नहीं हो जाना चाहिए। काम की हर वस्तु को सम्हालकर रखना चाहिए। इस पत्थर के निमित्त तुम्हारी आज परीक्षा हुई। उसमें तुम पास हुईं।” मनु बहिन बापू को पत्थर पाने पर प्रसन्न देखकर बोली—“यदि कभी मैंने सच्चे मन से राम का नाम लिया तो आज ही। उस बीट्टेड मार्ग में जाते हुए मन काँपता था।” बापू हँसकर बोले—“हाँ, दुःख में ही तो राम की याद आती है।”

महात्माजी का हास्य प्रायः परिस्थितियों पर निर्भर रहता था। उसके द्वारा वे उनकी विषमता निकाल देते थे। गम्भीर वातावरण को सरस बनाना, उद्दण्ड अवस्था को नियन्त्रित करना, क्रुद्ध अफसरों को शीतलता प्रदान करना, तथा प्रतिकूल व्यवस्था को अनुकूल करना उनके हास्य के लिए साधारण बात थी। क्रुद्ध, क्षुब्ध, गरजते, तड़पते सभी प्रकार के लोग उनके पास आते थे, किन्तु बापू का विनोद उनके मनोवेगों को काफूर कर देता था।

अपनी कुछ कल्पित कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक अछूत सत्याग्रही अपने दल-बल के साथ नारे लगाता हुआ महात्माजी के आश्रम

आमरण उपवास करने पहुँचा। महात्माजी ने अपनी पराङ्कुटी छोड़ते हुए कहा—“यह कुटी और यह आश्रम सब आपकी सेवा में प्रस्तुत है। जहाँ इच्छा हो, विचारिए।” क्रोडालु सत्याग्रहियों पर घड़ो पानी पड़ गया और वे सब नारे भूल गए। उन्होंने कस्तूरबा की कुटी का एक भाग चुना।

बा ने महात्माजी से कहा—“और मैं कहाँ रहूँगी?” बापू ने मुस्कराते हुए कहा, तुम्हें तो बहुत स्थान नहीं चाहिए। देखो ना, मैं तो अपनी सम्पूर्ण कुटी देने को तैयार हूँ। क्योंकि वे मेरे बच्चे हैं।” महात्माजी ने मुस्कराते हुए बा से पूछा—“तब फिर क्या वे तुम्हारे भी बच्चे नहीं हैं?” बा गद्गद हो गई। माता की शरण में आकर सब सन्तुष्ट हो गए, उनका जोश ठण्डा पड़ गया।

सत्याग्रह में कई बार जेल जानेवाले सस्कृत के उद्भट विद्वान् श्री परचुरे शास्त्री अपने अन्तिम समय महात्माजी के आश्रम में पहुँचे। उन्हें घृणित कोढ़ हो गया था। अतएव उन्हें सन्देह था कि आश्रम में स्थान मिलेगा भी। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि यदि वे आश्रम से निकल गए तो वे महात्माजी के निकट अपने प्राण दे देंगे। शास्त्रीजी ने महात्माजी से आश्रम में रहने की अनुमति माँगी। गाँधीजी ने उत्तर दिया—“नहीं कैसे कहूँ? यदि मैं यक्ष्मा-पीड़ित अपने निकट सम्बन्धी को यहाँ रख सकता हूँ, तो तुम्हें क्यों नहीं? आओ, मैं तुम्हारी स्वयं सेवा करूँगा। और बा तुम्हारी देखभाल को तो है ही।” शास्त्रीजी को मानसिक शान्ति ही नहीं, शारीरिक शान्ति भी मिली; क्योंकि महात्माजी स्वयं उनका उपचार करने लगे।

चरखे और कताई पर बड़ा जोर देने से क्रुद्ध होकर एक सज्जन बोले—“महात्माजी, आपको चरखे का खब्र है।” गाँधीजी ने कहा—“हाँ भाई, मेरा यह पागलपन है।” फिर कुछ रुककर बोले—“किन्तु मैं पागल नहीं हूँ, पागल को अपने खब्त का पता नहीं होता।”

सन् 1934 में महात्माजी ने बम्बई में कांग्रेस से अवकाश ग्रहण

कर लिया था। उनका मार्ग-प्रदर्शन मिल सकेगा कि नहीं इस असमंजस में सब नेतागण बिदाई बेला में स्तब्ध खड़े थे। गम्भीरता बढ़ती देखकर महात्माजी ने एक स्वयंसेवक की टोपी उतारकर सरदार पटेल के सिर पर रख दी। सब खिलखिलाकर हँस पड़े। गम्भीर वातावरण काफूर हो गया। गाड़ी के सीटी देते ही विक्टोरिया स्टेशन महात्माजी की जय से गूँज उठा। कितना सारगर्भित कार्य था—अब ताज सरदार के सिर पर है।

एक बार की बात है। महात्माजी स्टेशन पहुँचे। गाड़ी आने में देर थी। पत्रकारों ने उन्हें घेर लिया और प्रश्नों की बौछार की। कुछ समय तक तो वे उत्तर देते रहे। किन्तु एक पत्रकार ने जिज्ञासा की—“बापूजी, क्या कांग्रेस मन्त्रिपद ग्रहण करेगी?” बात तब तक गोपनीय थी। सीधा उत्तर देना सम्भव न था। महात्माजी ने उसकी ओर बढ़कर मुस्कराते हुए पूछा—“क्यों साहब, आप मन्त्री बनना चाहते हैं?” पत्रकार महोदय लजाकर खिसकना चाहते थे, पर महात्माजी कब छोड़ने वाले थे। “ठहरिए, जरा अपना हैट दीजिए।” वह समझ न सका। उसने तुरन्त हैट सिर से उतारकर हवाले किया। सोचा जान बूची और अब ठहरना ठीक नहीं, अतएव भीड़ में अदृश्य होने का प्रयत्न करने लगा। पर महात्माजी तो मानो उसके पीछे ही पड़ गए हों। उन्होंने पसार दिया हैट उसी के सामने। बेचारे मन्त्रिपद के इच्छुक पत्रकार को कुछ रुपये उसमें डालने ही पड़े। एकत्रित जन-समुदाय कहकहा मारकर हँस पड़ा और महात्माजी ने ‘हरिजन कोष’ के लिए कुछ धन एकत्रित कर लिया।

महात्माजी का भाषा पर असाधारण अधिकार था, विशेषकर गुजराती और अंग्रेजी पर। वे अपने भावों को व्यक्त करने के लिए सरल शब्दों का ऐसा तारतम्य बाँधते थे कि पाठक चकित रह जाता था। उनका गद्य काव्य का रूप धारण कर लेता था। एक बार आगाखाँ महल में उनके जन्म-दिवस पर श्रीमती सरोजिनी नायडू ने विद्वानों

की कुछ सूक्तियाँ चयन करके महात्माजी के सम्मुख रखीं। उनमें से एक वाक्य उन्हें बहुत पसन्द आया वह था, “गऊ करुण रस की कविता है।” इस वाक्य पर मुग्ध होकर महात्माजी ने इसकी बड़ी प्रशंसा की। श्रीमती नायडू ने मुस्कराते हुए कहा—“निज कवित्त केहि लाग न नीका”। महात्माजी को क्या स्मरण था कि यह पक्ति उन्हीं की है। ऐसे-ऐसे सुन्दर वाक्य लिखकर वे बहुधा भूल जाया करते थे। उनका गद्य रस्किन, थोरो और टाल्स्टाय की टक्कर का होता था।

उनके गद्य-लाघव की एक कहानी और है। स्वतन्त्रता-दिवस पर एक सत्याग्रही महात्माजी के पास पहुँचा और बोला—“आपने आज की प्रतिज्ञा को एक जटिल पहेली बना दिया है। आपने प्रतिज्ञा ऐसी बनाई है कि उसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। आपका हमारे लिये क्या आदेश है?” मुस्कराते हुए महात्माजी बोले—“आप नहीं जानते हमारे वेद-वाक्यों के अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। हमारी आज की प्रतिज्ञा वेद-वाक्य से कम नहीं। यदि आपमें इसे समझने और अर्थ लगाने की क्षमता हो तो प्रतिज्ञा लीजिये अन्यथा न लीजिये।”

एक बार सरदार पटेल ने गांधीजी से पूछा—“समाचारपत्रों का कहना है कि लार्ड लिनलिथगो ने अपने वक्तव्य की एक पूर्व प्रति आपके पास भेज दी थी। क्या वह सशोधन या निर्देशन के लिये आई थी?” तुरन्त उत्तर मिला—“यह एक रोचक असत्य है, जिसमें किसी सशोधन अथवा निर्देशन की आवश्यकता नहीं, किन्तु समरी रिजेक्शन की अवश्य।” सरदार ने हँसते हुए कहा—“आपमे सब देवों को प्रसन्न करने का अद्भुत गुण है। एक ही लेख मे जहाँ वायसराय के वक्तव्य की आपने प्रशंसा की है वहाँ जयप्रकाश तथा समाजवादियों को भी दो सुन्दर शब्द कहे हैं।” सरदार की हँसी का साथ देते हुए महात्माजी ने कहा—“हाँ, हाँ, यह गुण तो मैंने अपनी माता से सीखा था। वह मुझे हवेली भेजती थी और शिवमन्दिर भी, और मेरी शादी होने पर उन्होंने हमसे न केवल हिन्दू देवताओं की पूजा कराई वरन् फकीरों के मजारों पर भी भेजा।”

सरदार पटेल की जब महादेव देसाई से आश्रम में पहली भेंट होती तो वे प्रायः यह प्रश्न पूछा करते थे—“कहो भाई, तुम्हारे पागलखाने का क्या हाल है ?” एक बार महात्माजी ने सरदार का प्रश्न सुन लिया और अपनी कुटिया से बोले—“भाई, अपनी तो शकरजी की बरात है। पागलखाना तो नहीं।” तीनों हँस पड़े “किन्तु दशा एक समुझव बिलगाना” था। गांधीजी ने सत्य ही कहा था, प्रत्येक आश्रम-वासी अपनी तरफ़ में मस्त किसी-न-किसी कार्य में सलग्न रहता था। लक्ष्य की एकता के साथ कार्यों की विभिन्नता और विचित्रता व्यक्त हो जाती है।

महात्माजी को बच्चों की भोली-भाली बातों में बड़ा आनन्द आता था। वे बच्चों से बड़ा स्नेह रखते थे और उनसे हिल-मिलकर बड़ा विनोद करते थे। बच्चे भी बापू को बड़ा प्यार करते थे और उनके साथ निडर होकर खूब खेलते थे। शाम को उनके साथ टहलने जाने के लिये बच्चे उत्सुक रहा करते थे। किसी आगन्तुक के साथ आये बच्चे को वे बिना छेड़े न मानते थे। गरीब-अमीर सभी के बच्चे उनके लिये समान थे। बहुधा बच्चों से बड़ी मनोरंजक बातें हुआ करती थी। एक बार एक बच्चे ने पूछा—“बापू आप दिल्ली जा रहे हैं ?”

“हाँ।”

“क्यों ?”

“वायसराय से मिलने।”

“आप सदा वायसराय से मिलने जाते हैं। वे क्यों आपसे मिलने नहीं आते ?”

“यह तो वायसराय से पूछो।” कहते हुए महात्माजी कहकहा मारकर हँस पड़े और सब बालमण्डली खिल उठी।

एक दूसरे अवसर पर एक बालक ने कहा—“बापू, आप सबको मिलने का समय देते हैं मुझे भी दीजिये।” महात्माजी ने सोचकर कहा—“अच्छा कल शाम को साढ़े पाँच बजे आपसे मुलाकात करूँगा।”

दूसरे दिन शाम को महात्माजी अन्य नेताओं से बातचीत करने में ऐसे लगे कि उन्हें यह बात याद न रही। ठीक समय बड़े ठाट-बाट से वह बालक महात्माजी के सामने खड़ा हुआ और बोला—“बापू, यह समय तो आपने मुझे दिया था।” महात्माजी हँस पड़े और बोले—“हाँ चलो, पहले तुमसे मुलाकात कर लें।” बात भी शीघ्र समाप्त हो गई और महात्माजी पूर्ववत् व्यस्त हो गये किन्तु इस घटना से एकत्रित नेताओं का बड़ा मनोरंजन हुआ।

एक सत्य और अहिंसा के उपासक को संसार में किसी व्यक्ति या वस्तु का भय न था। यदि था तो अपने राम का जिन्हे वे अपने अन्तिम क्षण तक न भूल सके। विदेशी शूलियाँ उन्हें न बेध सकी, साम्प्रदायिकता उन्हें न खा सकी; बंगाल की प्रज्ज्वलित ज्वाला में वे निर्भय कूदे और नितान्त प्रखर होकर निकले; नोआखाली के दुर्गम्य कंटकाकीर्ण हिंसक जन-जन्तु-पूर्ण मार्ग उन्हें न डरा सके। इतने निर्भय थे कि उन्हें अपनी रक्षा की आवश्यकता न थी। वे कभी भी अपने साथ रक्षकों को रखना स्वीकार न करते थे।

बिहार से कुछ खाकसारों को महात्माजी की हत्या के लिए आते सुन मध्यप्रान्तीय सरकार ने आश्रम में पुलिस का पहरा बैठा दिया। जब कुछ दिनों पश्चात् वह पहरा हट गया तो किसी ने महात्माजी को उसकी सूचना दी। अपनी अस्वीकृति देते हुए उन्होंने कहा—“भाई, शुक्लजी के राज्य में रहता हूँ, जैसे रखेंगे, रहूँगा।”

किन्तु सम्भवतः महात्माजी के जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण वह था जब भारतवर्ष में स्वतन्त्रता आई। 15 अगस्त 1947 की अर्द्धरात्रि महात्मा गांधी के जीवन का सर्वश्रेष्ठ क्षण कदाचित् इसलिए है कि जिसके अनवरत परिश्रम से भारत को स्वतन्त्रता मिली हो, वह अपने को फल-प्राप्ति से इतना विरक्त कर ले कि उस क्षण के हर्षोल्लास में भी सम्मिलित न होकर सुदूर सैकड़ों कोसों पर असहाय पीड़ित जनता की धीमी पुकार पर दौड़ा जाय और स्वयं को अपने आजीवन लक्ष्य की

प्राप्ति में भाग लेने से वंचित रखे । यह थी निष्काम योग की कर्म-साधना, गीता के अनुयायी की अनासक्ति भावना एवं नर-नारायण की यथार्थ वंदना । कदाचित् ऐसा महापुरुष न ससार में हुआ है और न निकट भविष्य में होगा ।

बाबू साहब

जून महीने की एक शाम को काशी के भेलूपुर मुहल्ले के एक मकान के सामने मैंने पुकारा—“बाबू साहब ! बाबू साहब !!” कर्कश आवाज में ऊपर से किसी ने पूछा—“कौन है ?” मैंने उत्तर दिया—“एक विद्यार्थी ।” फिर प्रश्न हुआ—“क्या काम है ?” और साथ में एक नौकर भी उतरा जिसने बताया कि बाबू साहब अभी घूमकर लौटे हैं तथा आराम कर रहे हैं । मैंने उससे कहा—“बाबू साहब को बता दो कि मैं बाहर से आया हूँ । दो बार उनके दर्शनार्थ भटक चुका हूँ । यदि दर्शन दे तो बड़ी कृपा होगी ।” नौकर ऊपर जाकर वापस आया और मुझे सीढ़ियों के रास्ते ऊपर एक कमरे में ले गया जिसमें कुछ अंधेरा था । वहाँ एक चारपाई पर बाबू साहब उछारे लेटे थे । उनकी धोती आवश्यक्ता से अधिक जाँघो से ऊपर चढ़ी थी और वे बगल में रखे हुक्के को गुड़गुड़ा रहे थे । “कौन, कहाँ से, कैसे आए ?” प्रश्नों का उत्तर पा लेने पर उन्होंने पूछा—“तो मुझसे क्या काम है ?” मैंने बताया कि “मैं काशी के साहित्यिक महारथियों से मिलकर उनकी जीवनी तथा रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ सामग्री एकत्र करना चाहता हूँ ।” कुछ व्यग्य करते हुए बाबू साहब ने पूछा—“तो आप किन महारथियों से मिल चुके हैं ?” मैंने सम्हलकर उत्तर दिया—“सबसे पहले आपके ही दर्शन कर रहा हूँ ।” “क्यों, रामचन्द्र शुक्ल से मिलिए, वे तो बड़े साहित्यकार हैं ?” मैंने कहा—“आप वयोवृद्ध हैं, आप ही सबसे बड़े हैं ।” “वयोवृद्ध तो हरिऔध हैं, उनसे मिले होते ।” मैंने निवेदन किया कि “हरिऔधजी के यहाँ तो मैं टिका ही हूँ, उनसे कभी भी बात कर

लूंगा। उनका भी आदेश है कि पहले आपसे मिलूं।” किंचित् सन्तुष्ट होते हुए वे बोले—“मेरे बारे में क्या जानना है? मैंने तो हिन्दी को अपने पैरो खड़ा कर दिया है। अब आप परिश्रम कीजिए, कुछ शोध कीजिए, काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका में ढूँढिए, मैंने जो कुछ किया है उसमें मिल जाएगा।” मैंने उन्हें आश्चर्य किया कि मैं पत्रिकाएँ तो पढ़ूँगा ही किन्तु उनके मुँह से भी कुछ सुनने को उत्कण्ठित हूँ।

कुछ नरम पड़ते हुए बाबू साहब बोले—“जीवनी लिखनेवालों पर मेरा विश्वास कम जमता है। एक बार मेरा एक विद्यार्थी अपनी मौखिक परीक्षा देने के बाद मेरे पास आया और मुझसे मेरा जीवन-चरित्र लिखने के लिए सामग्री माँगने लगा। मैंने उस समय तो उससे नाही कर दी किन्तु फिर जब बहुत पीछे पड़ा तो मैंने कुछ नोट्स दे दिए। नोट्स तो उसने कुछ दिनों बाद लौटा दिए किन्तु आज तक उसकी लिखी जीवनी देखने को न मिली। वास्तव में वह मेरी जीवनी न लिखना चाहता था, मुझे प्रसन्न कर अपने स्वार्थों को सिद्ध करना चाहता था। बाद में वह कहता था कि अस्ताचल में गए सूर्य की कौन पूजा करता है। तो आप भी ऐसी भूल न करें, अस्ताचल में गए की मत चिन्ता कीजिए।” मैंने उनकी क्षुब्धता कुछ और कम करने के लिए कहा—“अस्ताचल में तो सभी को जाना पड़ेगा। किन्तु सूर्य की प्रचण्ड मरीचिकाओं से जो पौधे पनपे हैं वे सदा उनका स्मरण दिलाते रहेंगे। बाबू साहब, मेरा कोई व्यक्तिगत स्वार्थ आपसे नहीं है। मैं केवल दर्शनार्थ आया हूँ। आप चाहे कुछ बतला दें, अन्यथा दर्शन से ही कृतकृत्य हो गया हूँ। मैं वादा नहीं करता कि आपके विषय में शीघ्र ही कुछ लिखूँगा। सामग्री अवश्य बटोरना चाहता हूँ जिससे अवसर मिलने पर कुछ लिख सकूँ।”

तब बाबू साहब बोले—“आपकी स्पष्टवक्तृता मुझे पसन्द आई। आइए। मेरे सम्बन्ध में एक अंग्रेजी में प्रकाशित नोट है वह दिला दूँगा।” बिदा लेते हुए मैंने अपना पहला प्रश्न दोहराया—“आपका

स्वास्थ्य कैसा है ?” हिन्दी जगत् मे फैली दलबन्दी के क्षोभ से दुःखित होने के कारण उन्होंने पहले उसका उत्तर न दिया था किन्तु अब बोले—“भाई मुझे उदर रोग है, इसके कारण कुछ हिन्दी की सेवा नहीं कर पाता । फिर जो बनता है सो करता जाता हूँ ।” मैंने कहा—“बाबू साहब, आपने हिन्दी को बहुत ऊँचा उठाया, विश्वविद्यालयों में आसीन किया, इससे अधिक और कोई किसी भाषा के लिए क्या कर सकता है ।” उन्होंने मेरी भूल को सुधारते हुए कहा—“और फिर मैंने उसके साहित्य के आवश्यक अंगों की पूर्ति भी तो की है । भले ही लोग कहें कि मैंने जूठन बटोरी है, चोरी की है, किन्तु वे सब मेरी रचनाएँ हैं ; उस समय की जब हिन्दी में उस ढंग की एक भी पुस्तक न थी । दलबन्दी कैसा भी कीचड़ उछाल सकती है । उससे हमारी भाषा को बड़ी हानि होगी ।” मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि अभी लोग दलबन्दी के कारण चाहे कुछ कहें किन्तु पचास वर्ष बाद जो मूल्यांकन होगा उसमें निश्चय ही उनका स्थान हिन्दी और उसके साहित्य के श्रेष्ठ प्रवर्तकों में होगा । वे कुछ चुप रहे और फिर बोले—“जिनकी होय भावना जैसी, मम मूरत देखे ते तैसी । मुझे किसी का डर नहीं, सत्य कहने में भय नहीं ।”

रात्रि काफी हो गई थी, अतएव मैंने बिदा ली और दूसरे दिन जाकर उनका जीवनी सम्बन्धी नोट ले आया । स्वभाव की रक्षता का कारण जानने के लिए मैंने उसे शीघ्र ही पढ़ डाला । बाबू श्यामसुन्दर-दास का सारा जीवन संघर्षमय था । यह संघर्ष बहुमुखी था । उनका पारिवारिक जीवन अशान्तिपूर्ण था, जातीय सगठन की रूढ़िवादिता उन्हें चिन्ताग्रस्त करती थी, समाज की कठोरता का आघात सहना पड़ता था, साहित्यिक क्षेत्र में विभिन्न व्यक्तियों के आक्षेपों का सामना करना होता था । इसलिए बहुमुखी संघर्षों और घात-प्रतिघात में पड़े रहने के कारण उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में कर्कशता आ गई थी । समयानुकूल उसी का अनेक रूप में प्रदर्शन होता था । इसी

के कारण उनमें एक प्रकार का चौकन्नापन और अक्खड़ता उत्पन्न हो गई थी। निर्भीकता और स्पष्टवादिता ने उन्हें अप्रिय-भाषी भी बना दिया था। वे सहसा किसी का विश्वास नहीं करते थे जब तक कि समुचित प्रमाण न मिल जाएँ। जीवन-भर वे अपूर्व दृढ़ता, आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन से किसी-न-किसी विरोधी दल का सामना करते रहे। उनके प्रतिद्वन्द्वी उनसे सदा सशक और भयभीत रहते थे। निरन्तर सफलता मिलने के कारण उसमें कर्तृत्व ज्ञान और गर्वानुभूति की मात्रा प्रबल होती रही। उनका पूरा जीवन संघर्ष और सगठन का क्रीडाक्षेत्र बना रहा। इस क्षेत्र में उन्होंने 16 जुलाई, सन् 1893 ई० को नागरी प्रचारिणी सभा के श्रीगणेश के साथ पदार्पण किया। उस समय हिन्दी की बुरी दशा थी। उसका नाम लेना भी पाप समझा जाता था। दफ्तरों में उसकी बिल्कुल पूछ न थी, स्कूलों में केवल मिडिल कक्षा तक स्थान मिला था। उसे लोग 'भाखा' कहते थे और उसके बोलने-वाले को गँवार। ऐसे विपरीत काल में बाबू साहब ने हिन्दी के समुद्धार का प्रश्न उठाया और पचास वर्ष तक एकचित्त होकर हिन्दी को उच्च-पदासीन कराने और उसके साहित्य भण्डार को भरने में सलग्न रहे। हिन्दी विकास के गत पचास वर्ष उनके कृतित्व के जीवित इतिहास हैं।

श्यामसुन्दरदास के पूर्वजों का सम्पन्न घराना लाहौर में था जो टकसालियों के नाम से प्रसिद्ध था, क्योंकि किसी समय उनके घर में मोहरे ढलती थी। बाद में कुछ लोग अमृतसर आकर रहने लगे थे और उनके पितामह कपड़े के व्यापार के सम्बन्ध में काशी में बस गए थे। उनके नाना जौहरी थे जो एक लाख रुपये की ढेरी पर गुडगुडी रखकर तम्बाकू पिया करते थे। श्यामसुन्दर का बाल्यकाल बड़े लाड़-प्यार से बीता। आरम्भ में उन्होंने गुरु से दीक्षा ली और फिर वैंसलियन मिशन स्कूल, हनुमान सैमीनरी और क्वीन्स कालिजिएट स्कूल में शिक्षा पाते रहे। पण्डित रामावतार पाण्डेय इनके संस्कृत के अध्यापक थे। इन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के विरोध में एक लेख लिखा जिसे पढ़कर इनके अंग्रेज

शिक्षक बड़े रुष्ट हुए और फिर इन पर उनकी अनकृपा रहने लगी। इनकी संगति कुछ शरारती लड़कों की थी। नेतृत्व के गुण होने के कारण यह उनकी नकेल अपने हाथ में रखते थे। क्वीन्स कालेज के बगल में अमरूद के बगीचे पर प्रायः घावा बोला जाता था। वरणा नदी के किनारे यदा-कदा विजया भी छनती थी। किन्तु एक बार भग बहुत चढ़ जाने पर घर की डाँट के डर से उन्होंने उसे पीना छोड़ दिया।

कालेज में ग्रन्थपाल अग्निहोत्री का बड़ा दबदबा था। वे जूते उतार पलथी मारकर पुस्तकालय में बैठ जाते। पुस्तकें निकालने के लिए उठना न पड़े इसलिए वे लड़कों से सौ हुज्जतें करते किन्तु पुस्तकें न देते। विद्यार्थी उनसे तग आ गये थे। अतएव इनकी मण्डली ने उन्हें परेशान करने की योजना बनाई। एक दिन दो-चार विद्यार्थियों ने उन्हें घेरकर बातों में लगा लिया। इसी बीच एक ने उनके जूते छाते में छिपाकर खिसका दिये और बाहर जाकर कुएँ के हवाले कर दिये। कालेज समाप्त होने पर अग्निहोत्री अपने जूते ढूँढ़ रहे थे और लोगों से लड़कों की उच्छृंखलता की शिकायत कर रहे थे। इनकी मण्डली दूर खड़ी कहकहे लगाकर मजा ले रही थी। आखिर बहुत खिसियाकर उन्हें नये पैरो घर जाना पड़ा। एक दूसरे अवसर पर टूर्नामेंट में अग्निहोत्री को बड़ा रोब गालिब करते देख उन्होंने मित्रों को सकेत कर दिया। फिर क्या था भीड़ में से किसी ने अग्निहोत्री के गाल का अचूक निशाना बनाकर अण्डा मारा। जो वे उधर देखने को घूमे तो दूसरे गाल पर भी अण्डा फूटा। खेल में होहल्ला मच गया और वह बन्द हो गया।

पढ़ने-लिखने के कार्यों में भी इनका नेतृत्व चलता था। कालेज से अलग निजी तौर पर इनकी मण्डली ने एक डिबेटिंग सोसायटी खोल रखी थी। इसका अधिवेशन प्रति शनिवार को एक रईस के अस्तबल के ऊपरवाले कमरे में होता था। जुलाई सन् 1893 ई० के एक अधिवेशन में आर्यसमाज के उपदेशक शंकरलालजी पधारे जो बाद में स्वामी शंकरानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके ओजस्वी भाषण से

प्रभावित होकर अगली बैठक में यह निश्चय किया गया कि एक नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की जाय। श्यामसुन्दरदास को इस सभा का मंत्री चुना गया और पंडित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिव कुमार सिंह तथा अन्य लोग उसके सभासद बने। अन्यो ने धीरे-धीरे सदस्यता त्याग दी किन्तु यह त्रिमूर्ति उसमें लगन से चिपकी रही। इनके प्रयत्नों से शीघ्र ही सभा ने काशी में अपना स्थान बना लिया। उस समय हिन्दी की नितान्त हीन दशा देखकर सभा ने उसकी उन्नति करने के प्रयास आरम्भ किये। किन्तु लड़कों के खिलवाड़ में स्थापित यह सभा प्रारम्भ में मन के लड्डू खाती रही और आकाश-पुष्प की कामना करती रही।

सभा के पहले वार्षिक अधिवेशन के लिए राजा शिवप्रसाद से सभापति बनने की प्रार्थना की गई। उन्होंने हिन्दी की बड़ी सेवा की थी। यद्यपि वे ग्रामफहम भाषा के हिमायती थे, किन्तु वे ब्रिटिश सरकार के भक्त समझे जाते थे। इसलिये कांग्रेसी नवयुवकों ने उनके सभापति बनाये जाने पर आपत्ति खड़ी की। इससे श्यामसुन्दरदास बड़ी झुंझट में पड़ गये। किन्तु उन्होंने बड़ी चतुराई से 'काशी पत्रिका' के सम्पादक पंडित लक्ष्मीशकर मिश्र को सभापति बनने के लिए राजी कर लिया। उस अधिवेशन में हिन्दी पुस्तकों की खोज करने का निर्णय हुआ तथा चर्चा करके यह कार्य आगे बढ़ाया गया।

सभा के चौथे अधिवेशन के अध्यक्ष काशी के कलेक्टर बनाये गये। उन्होंने अपने भाषण में नागरी अक्षरों की बड़ी निन्दा की। श्यामसुन्दरदास से यह सहन न हुआ और धन्यवाद देते समय उन्होंने कलेक्टर के मत का विरोध किया। जब वे घर लौटकर गये तो उनके परिवार के बड़े-बूढ़े लोग इन पर बहुत बिगड़े। कहने लगे—“यह लड़का अपनी मनमानी बकता है, स्वयं तो जेल जाएगा ही, हम लोगो को भी हथकड़ी-बेड़ी पहिना देगा।” उस समय अंग्रेजों का इतना आतंक था। किन्तु श्यामसुन्दरदास कब माननेवाले थे।

उन्होंने पंडित मदनमोहन मालवीय तथा अन्य व्यक्तियों की सहायता से कचहरी और दफ्तरो में हिन्दी अक्षरों का प्रयोग कराने के लिए गवर्नर साहब को स्मरणपत्र दिया। उस समय तो उसका कोई फल न हुआ किन्तु हिन्दी के पक्ष में एक आन्दोलन का सूत्रपात अवश्य हो गया जो आगे चलकर कालेज और कचहरी में हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने में सफल हुआ।

इस शताब्दि के आरम्भ में इण्डियन प्रेस, प्रयाग के संचालक ने सभा से एक हिन्दी मासिक पत्रिका का सम्पादन करने का प्रस्ताव किया। सभा ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया और पाँच व्यक्तियों के एक सम्पादक-मण्डल के, जिसमें श्यामसुन्दरदास भी थे, तत्वावधान में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। दो वर्ष बाद चार व्यक्ति अलग हो गये और तीसरे वर्ष अकेले बाबू साहब ने ही सम्पादन किया। उन्होंने इस वर्ष 'सरस्वती' को मासिक पत्रिका का रूप दिया और सम्पादकीय टिप्पणी लिखना आरम्भ की तथा कई नये स्तम्भ खोले। किन्तु कार्याधिक्य के कारण उन्होंने अगले वर्ष उससे छुटकारा ले लिया और पंडित महावीरप्रसाद ने सम्पादन-कार्य सम्हाला।

उस वर्ष की पत्रिका में बाबू श्यामसुन्दरदास का एक चित्र देते हुए द्विवेदीजी ने एक टिप्पणी लिखी जिससे बाबू साहब की उन दिनों की हिन्दी सेवा और ख्याति का पता मिलता है। द्विवेदीजीने लिखा था—
 “जिन्होंने बाल्यकाल ही से अपनी मातृभाषा हिन्दी में अनुराग प्रकट किया, जिनके उत्साह और अशान्त श्रम से नागरी-प्रचारिणी सभा की इतनी उन्नति हुई, हिन्दी की दशा को सुधारने के लिए जिनके उद्योग को देखकर सहस्रशः साधुवाद दिये बिना नहीं रूखा जाता, जिन्होंने विगत दो वर्षों में इस पत्रिका के सम्पादन-कार्य को बड़ी योग्यता से निबाहा, उन विद्वान् बाबू श्यामसुन्दरदास के चित्र को इस वर्ष के आदि में प्रकाशित करके 'सरस्वती' अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती है।” चित्र के नीचे लिखा था—

मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी० ए० पास ।

सौम्य-शील-निधान, बाबू श्यामसुन्दरदास ॥

परन्तु दूसरे ही वर्ष दोनो दिग्गजों में टक्कर हो गई । सभा द्वारा की गई हिन्दी पुस्तकों की खोज के विवरण की 'सरस्वती' में कटु आलोचना निकली जिससे सभावाले बेतरह नाराज हुए और पत्रिका के 'अनुमोदन का अन्त' कर दिया । फिर 'वैज्ञानिक कोष' की बात पर भारी सघर्ष छिड़ा । सभा के सूत्रधारों ने द्विवेदीजी को कुटिल बताकर सदस्यता से निकालने की धमकी दी । द्विवेदीजी कब सहन कर सकते थे अतएव उन्होंने एक लेख 'सभा की सभ्यता' और दूसरा बड़ा निबन्ध 'कौटिल्य-कुठार' लिख मारा । बाबू साहब ने 'भारत मित्र' में द्विवेदीजी के विरुद्ध लिखना आरम्भ किया जिसका प्रत्युत्तर उन्होंने 'बंगवासी' में 'शीलनिधानजी की शालीनता' शीर्षक लेख में दिया । किन्तु इन व्यक्तिगत झगड़ों में हिन्दी की प्रगति में अवरोध आने की सम्भावना से बाबू साहब ने क्षमा माँगकर उन्हें समाप्त कर दिया ।

बाद में एक बार द्विवेदीजी अपने भानजे से मिलने के लिए कालीचरण स्कूल, लखनऊ के बोर्डिंग हाउस गये थे । उस समय बाबू साहब वहाँ प्रधानाध्यापक थे । द्विवेदीजी के आने का समाचार पाते ही वे जाकर उन्हें अपने निवासस्थान पर ले आए और उनका बड़ा आदर-सत्कार किया । द्विवेदीजी ने तब प्रसन्न होकर कहा—“हम दोनों में बड़ा वैमनस्य रहा । जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं । मैं बुढ़ा हो चला हूँ । जो कुछ मैंने कहा-सुना है इसके लिए तुम मुझे क्षमा करो और मैं भी तुम्हें क्षमा करता हूँ ।” इसके बाद जब कभी द्विवेदीजी काशी जाते तो बाबू साहब उनसे मिलने जाते और बड़ा सौहार्द दिखाते थे । काशी में अपने 'अभिनन्दन ग्रन्थ' समारोह में जाने के लिए द्विवेदीजी आनाकानी करते थे, किन्तु जब बाबू श्यामसुन्दरदास उन्हें प्रयाग में लेने आए तो वे चले गये ।

बाबू साहब में कार्य-संगठन की अपूर्व योग्यता थी । कार्य को

व्यवस्थित बनाने, यथायोग्य कार्य वितरण करने तथा लोगों को प्रोत्साहित करने की उनमें बड़ी क्षमता थी। हिन्दी-सेवा की लगन उनमें इतनी प्रबल थी कि विरोधों की चिन्ता न करके बड़ी धुन से कार्य सम्पन्न करा लेते थे। उनकी सदा यह इच्छा रही कि किसी काम का श्रीगणेश करके योग्य व्यक्तियों को सौंप दे जिससे हिन्दी के कार्यकर्ताओं की सख्या में सदा वृद्धि होती रहे। दूसरे को कार्य देकर वे स्वयं निश्चिन्त नहीं हो जाते थे वरन् निकट या दूर से उस पर पूरी चौकसी रखते थे और विघ्न-बाधाएँ तथा मत-मतान्तर होते ही उनका समुचित समाधान करते थे। विभिन्न विद्वानों को किसी काम में जुटा देने तथा विवादों को समाप्त कर मार्ग प्रशस्त बनाने के अनुपम गुणों के कारण ही वे हिन्दी को उन्नत कर सके।

हिन्दी-प्रचार, वैज्ञानिक कोष का संकलन, हिन्दी लेख तथा लिपि प्रणाली की व्यवस्था, हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन, आर्यभाषा पुस्तकालय की स्थापना, रामचरितमानस की ग्रामाणिक टीका का प्रकाशन, सभा-भवन का निर्माण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दी पत्रिकाओं का आयोजन, मनोरंजन पुस्तकमाला का सम्पादन आदि अनेक सृजनात्मक कार्य वे अपनी कर्मनिष्ठा, उत्साह, विश्वास-बल तथा अथक परिश्रम के कारण सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सके।

‘हिन्दी शब्द सागर’ को तैयार करने में लगभग बाईस वर्ष लगे। इस बीच जम्बू जाने के कारण उनकी अनुपस्थिति में जो विघ्न खड़े हुए तो उन्होंने सब काम जम्बू में ही समेट लिया। कोष की प्रबन्ध-समिति के मन्त्री होने के नाते उन्होंने सोलह-सत्रह विद्वानों को शब्द-संग्रह में लगा दिया। नित्य की बोलचाल के शब्द-सचयन के लिए कुछ को सुनारों, चमारों, जुलाहों, मदारियों, दलालों, कसेरों आदि अनेक पेशेवरों से मिल-मिलकर शब्द बटोरने के काम में जुटा दिया। दूसरों को समस्त भारतवर्ष के पशु-पक्षियों, फल-फूलों और जीव-जन्तुओं के नाम इकट्ठा करने में व्यस्त किया। कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों को धन-सचय करने के लिए

राजा महाराजाओं से मिलने भेज दिया। इस प्रकार एक पूरी फौज उनके नेतृत्व में दस बड़े कार्य में लग गई। जब दस लाख स्लिपों पर शब्द लिख गए और करीब बीस लाख रुपये मिलने की आशा हो गई तो शब्द-सागर के प्रकाशन का कार्य आरम्भ हुआ। किन्तु किसी विघ्न-कर्ता ने स्लिपों के बाईस बण्डल मार दिए। इस चोरी से बड़ा आघात हुआ। किन्तु बाबू साहब हतोत्साह न हुए। उन्होंने उन स्लिपों को पुनः तैयार कराया और ग्रन्थ प्रकाशित करा दिए जिनका लोगो में बड़ा स्वागत हुआ।

उसके समारोह पर सम्पादकों को एक दुशाला, एक घड़ी और एक फाउण्टेनपेन देने का निश्चय हुआ। बाबू साहब की पत्नी ने जब यह सुना तो उनसे बोली—“क्या तुम भी दुशाला, घड़ी और कलम लोगे?” बाबू साहब ने कहा—“क्यों नहीं?” उनकी पत्नी बोली—“यह सर्वथा अनुचित है। सभा को तुम अपनी कन्या मानने हो, उसकी कोई चीज लेना धर्मविरुद्ध है। फिर तुम इन्हे कैसे ले सकते हो।” बाबू साहब धर्मपरायण पत्नी की बात सुनकर अवाक् रह गए और केवल प्रशंसा-पत्र से ही उन्हें सन्तोष करना पड़ा।

बाबू साहब किसी का अकारण रोब बरदाश्त न करते थे। एक बार उनके मित्र राय शिवप्रसाद प्रथम साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष निर्वाचित हुए। उनके कहने पर बाबू साहब ने उनका स्वागत भाषण लिख दिया। उसे जब पण्डित केशवदेव शास्त्री ने देखा, जो अपने को बहुत लगाते थे, तो उन्होंने उसमें सशोधन-परिवर्द्धन कर दिया। उनकी धृष्टता पर बाबू साहब बहुत भिन्नाए और कागजों को फाड़ डाला। राय साहब ने उन्हीं चिन्तियों को बटोर-जोड़कर अपना भाषण तैयार किया।

ऐसा जान पड़ता है कि बाबू साहब और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल में भीतर-ही-भीतर कुछ चला करती थी। शुक्लजी अपने गाम्भीर्य में सब छिपाए रहते थे किन्तु बाबू साहब की स्पष्टवादिता भीतर को

बाहर कर देती थी। इनको बहुत-से साहित्यिक कार्यों में शुक्लजी ने सहयोग दिया किन्तु एक बार साफ कह दिया कि “अब यह फरमायशी काम मुझसे न होगा।” कोश में भूमिका-स्वरूप हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास देने का निश्चय हुआ। भाषा का इतिहास बाबू साहब ने और साहित्य का शुक्लजी ने लिखा। दोनों इतिहास सिलसिलेवार छपे किन्तु भाषा का पहले और साहित्य का उसके बाद। साहित्य के इतिहास के अन्त में शुक्लजी ने अपना नाम दे दिया। इससे लोगो को यह भ्रम हुआ कि दोनों ही शुक्लजी के लिखे हैं। ‘अभ्युदय’ पत्र के एक प्रतिनिधि ने जब शुक्लजी से पूछा कि क्या भाषा विज्ञान उनका लिखा है तो शायद वे कोई स्पष्ट उत्तर न देकर मुस्करा दिये। इस पर उस प्रतिनिधि ने अपने पत्र में प्रकाशित करा दिया कि दोनों इतिहास शुक्लजी के लिखे हैं।

बाबू साहब इससे बड़े खिन्न हुए। किन्तु शुक्लजी ने बाबू साहब को एक पत्र लिखकर कहा कि पत्र-प्रतिनिधि ने भूल की है और वे उसका खण्डन कर रहे हैं। मगर फिर कोई खण्डन नहीं प्रकाशित किया। अतएव बाबू साहब ने साहित्यिक प्रवृत्तियों का इतिहास लिखकर अलग पुस्तकाकार प्रकाशित कर सन्तोष किया। इस सम्बन्ध में बाबू साहब ने अपनी आत्मकहानी में लिखा है—‘जिसने मिशन स्कूल से खींचकर साहित्य के महारथियों में स्थान पाने योग्य उन्हें बना दिया, जिसने सदा उनकी सहायता की, सब अवसरो पर उन्हें उत्साहित करके उनसे ग्रन्थ लिखवाए, उन्हें छपवाया और पुरस्कार दिलाया, तथा सदा उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया, उसके प्रति यह ‘उदारता’ शुक्लजी व उनके जैसे लोगो को ही शोभा दे सकती है।’

‘साहित्यालोचन’ लिखते समय बाबू साहब अपने लिखे पन्ने शुक्लजी को पढ़ने तथा परामर्श देने के लिए भेज देते थे। एक बार उनके यहाँ से पूरे पन्ने न लौटे, कुछ गायब थे। बाबू साहब ने अपने लड़के को देखने के लिए भेजा तो वे पन्ने उस तख्त के नीचे पड़े मिले जिस

पर शुक्लजी बैठकर लिखा करते थे। शायद वे हवा में उड़ गए हों किन्तु एक बार सन्देह हो जाने पर वह बड़ा ही करता है। फिर भी बाबू साहब शुक्लजी के गम्भीर अध्ययन का लाभ उठाने के मोह को न छोड़ पाते थे। कभी-कभी वे पाठ्यपुस्तकों में आये क्लिष्ट पदों के अर्थ के सम्बन्ध में शुक्लजी से परामर्श करते थे। शुक्लजी को जो पहली दृष्टि में समझ में आता वह बता देते थे और बाबू साहब उसी के अनुसार कक्षा में व्याख्या कर देते थे। विद्यार्थी जब शुक्लजी से पूछते तो वे ध्यानपूर्वक उसकी विशद व्याख्या कर देते जो यदाकदा बाबू साहब से किञ्चित् भिन्न होती। जब बाबू साहब को मालूम होता तो वे बड़े नाराज होते और शुक्लजी से कहते—“क्यों शुक्लजी, आपने मुझे यह अर्थ बताया और अब विद्यार्थियों को ऐसा बता दिया।” शुक्लजी का प्रायः उत्तर होता—“बाबू साहब, गौर से फिर देखने पर यह अर्थ भी लगता जान पड़ा।”

शुक्लजी प्रायः दस बजे विश्वविद्यालय ठेठ बनारसी इक्के पर जाया करते थे जिसे देखकर लोग दूर से पहिचान लेते थे। उनका निवासस्थान दुर्गाकुण्ड मार्ग पर था जिससे होकर बाबू साहब भी ठीक दस बजे निकलते थे। एक दिन शुक्लजी का इक्का नहीं आया। समय हो जाने पर वे पैदल ही निकल पड़े। बाबू साहब ने उन्हें अपनी सवारी पर बैठा लिया और पूछा—“आज आपका बनारसी इक्का कहाँ रह गया?” शुक्लजी ने उत्तर दिया—“शायद ‘बेढब’ की सवारी में है।”

प्रायः विश्वविद्यालय से लौटते समय केशवजी तथा शुक्लजी भी बाबू साहब के साथ ही लौटते थे। एक दिन रास्ते में बाबू साहब ने कहा—“शुक्लजी, आपके सम्बन्ध में लोगो की एक धारणा है।” शुक्लजी चौकन्ने हो गए। बाबू साहब ने इतना कहकर चुप्पी साध ली। उत्सुकता अधिक बढ़ते देख केशवजी ने पूछा—“क्या बात है?” बाबू साहब बोले—“लोगों ने शुक्लजी को कभी हँसते नहीं देखा।” केशवजी ने कहा—“बात यह है बाबू साहब कि इतनी बड़ी मूर्खों के अन्दर ही

इनकी हँसी घुटकर रह जाती है।” इस उत्तर पर शुक्लजी जोर से हँस पड़े और बाबू साहब की धारणा का अन्त कर दिया।

बाबू साहब प्रतिदिन प्रातः काल बेनागा घूमने जाते थे। घूमते-घूमते काशी के सेंट्रल स्कूल के मैदान में पहुँचते और दूसरी ओर से उस स्कूल के प्रधानाध्यापक प० रामनारायण मिश्र आ जाते। दोनों में बड़ा स्नेह और सौहार्द था, इसलिए खूब बातें होती। एक बार गर्मी के दिन थे, चारों ओर सूखा-सूखा था, घास का नामोनिशान न था, खेल के मैदान में भी बड़े टुकड़े सूखे पड़े थे। अचानक पड़ितजी एक दिन दौड़ते हुए आए। बाबूजी ने पूछा—“आज बड़े स्वस्थ दिखाई दे रहे हो, क्या बात है?” पड़ितजी के उत्तर देने के पूर्व ही बाबू साहब ने कहा—“इस मैदान में से जगह-जगह से घास खत्म हो गई है।” इस पर साथ घूमनेवालों में से कई को तो दबी हुई हँसी आई किन्तु इन दोनों का अट्टहास दूर तक सुनाई दिया।

रत्नाकरजी और बाबू साहब में बड़ा गहरा स्नेह था। दोनों ही हुक्का पीने के शौकीन थे। बाबू साहब के लखनऊ आने पर कुछ दिनों तक हुक्के की व्यवस्था न जम पाई। उन्हीं दिनों रत्नाकरजी आए। पान-तम्बाकू से सत्कार करने के बाद बाबू साहब मिट्टी के हुक्के की व्यवस्था करते थे। इसे गौरैया कहते हैं। बाबू साहब ने नौकर से कहा—“गौरैया ले आओ।” नौकर न समझ पाया और बोला—“का पकड़ कै लै आई।” बड़ा कहकहा रहा, नौकर भौचक्का खड़ा रहा और बाद में समझाने पर हुक्का लाया। बाबू साहब बोले—“भाई गौरैया की हँसी की कश खूब रही।”

सन् 1932 की बात है। रहस्यवाद पर बड़ी गरम चर्चा काशी के साहित्यिक मण्डल में चल रही थी। सबके परामर्श से बाबू साहब ने रहस्यवाद के एक प्रमुख कवि को जलपान पर आमंत्रित किया इस अभिप्राय से कि उनके रहस्यवादी दृष्टिकोण पर कुछ साहित्यिक चर्चा हो सके। एक संध्या समय काशी के सभी बड़े साहित्यकार बाबू साहब के घर

एकत्र हुए। मिष्ठान्न आदि का समुचित प्रबन्ध किया गया। किन्तु आमन्त्रित रहस्यवादी कवि बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने पर भी न आए। सध्या से रात्रि हो चली। दरवाजे पर आहट होते ही सबकी आँखें वही जाती थी, किन्तु अधिक रात्रि बढ़ते देख सभी निराश होने लगे। बाबू साहब ने कहा—“भाई रहस्यवादी कवियों की सभी बातें रहस्यमयी होती हैं, विश्वास नहीं रहता, अब आप उनके साक्षात्कार की आशा छोड़ मिष्ठान्न का सत्कार कीजिए।”

जिन दिनो प्लैचेट से मृत आत्माओं को बुलाने का बड़ा जोर था, बाबू साहब को भी उसमें अभिरुचि हुई। एक बार तिलकजी की आत्मा आई जिसने इन्हे मुख्य भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के इतिहास को लिखने का आदेश किया। उसका आपने पालन करना भी आरम्भ किया किन्तु पूरा न कर पाये। दूसरी बार किसी आत्मा ने बताया कि उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास स्वर्ग के पुस्तकालय में है जिसे जानकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। इसमें एक पुण्य या पुष्प नाम के आदि कवि की चर्चा है। आपने जब इस कवि के बारे में जानना चाहा तो बताया गया कि उसकी पोथी विध्याचल की एक गुफा में रहनेवाले एक साधु के पास है। आपने अपने शिष्य पंडित अयोध्यानाथ शर्मा को चुनार भेजा जहाँ उनके सम्बन्धी कोतवाल थे। बहुत ढूँढ़ने पर भी आदि कवि की पोथी का पता न लग पाया। प्लैचेट पर यह प्रायः सूर, तुलसी ऐसे बड़े कवियों को बुलाने का प्रयत्न करते थे किन्तु आपको अनुभव हुआ कि प्रायः महती आत्माएँ पृथ्वी पर नहीं आती। दुष्टजनों की आत्माएँ ही प्रायः भटकती रहती हैं। अतएव आपका इस ओर आकर्षण कम हो गया।

बाबू साहब को स्वजातीय कार्यों से भी अभिरुचि थी किन्तु वे जिस बात को ठीक समझते थे, उसे निर्भीकता के साथ कहते और करते थे। एक बार राजा मोतीचंद के यहाँ एक जापान से लौटे सज्जन को दावत दी गई। उसमें बाबू साहब भी आमन्त्रित थे। उन्होंने वहाँ केवल बरफ

की कुलफी खाई। जिन खत्री बंधु ने उन्हें यह कुलफी परोसी थी उन्होंने बाबू साहब के खिलाफ प्रचार किया कि उन्होंने विलायतियों के साथ खाया है अतएव उन्हें जाति से बाहर निकाला जाय। पचायत बुलाई गई और उन पर आरोप लगाया गया। किन्तु बाबू साहब ने कुलफी खाना स्वीकार करते हुए सबको खूब स्पष्ट बातें बनाईं। उन्होंने कहा—“पंजाब के खत्री मुसलमान गुज्जरो से दूध लेकर पीते हैं, उन्हें पहले जाति से निकालिये। फिर मेरे इन मित्र ने कुलफी परोसी थी। यदि यह उसे अनुचित समझते थे तो इन्होंने मुझे क्यों नहीं रोका? इन्होंने ही मुझे गड्ढे में ढकेला है और अब मुझ पर दोष लगाते हैं। अतएव इनको भी दण्ड दिया जाना चाहिये।” यह मुनते ही पचायत में होहल्ला मच गया और सभा समाप्त कर दी गई।

सन् 1901 की जनगणना में खत्रियों की गणना वैश्यों के साथ करने के आदेश हुए। इसके विरोध में उठायें गये आन्दोलन में बाबू साहब ने प्रमुख भाग लिया। उन्होंने खत्रियों की एक बड़ी सभा बरेली में बुलाई और बर्दवान के खत्री राजा को उसका सभापति बनाकर एक आवेदनपत्र सरकार को भिजवाया जिसमें अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया था कि खत्री वैदिक काल से क्षत्रियों की सत्ता है। सरकार को उसे स्वीकार करना पड़ा। यद्यपि वे स्वजातीय कार्यों में नेतृत्व करते थे किन्तु उनमें किसी भी प्रकार की सकीर्णता नहीं थी।

बाबू साहब बड़े स्पष्टवादी थे और इनके स्वभाव में कुछ अक्खड़पन था जिसके कारण लोग बुरा मान जाते थे। अतएव आजीवन यह विरोध का सामना करते रहे और उनका सारा जीवन संघर्षमय बना रहा। किन्तु यह अपनी धुन के इतने पक्के थे कि इनके प्रथम अर्द्ध-शताब्दि में किये गये प्रयत्नों के कारण ही हिन्दी को विश्वविद्यालयों और समाज में उच्च स्थान प्राप्त हो सका। यदि यह इतनी हड़ता, लगन और परिश्रम से हिन्दी को उन्नत बनाने का प्रयत्न न करते तो शायद उसके वृक्ष को पल्लवित, पुष्पित और फलान्वित होने में और अधिक समय लगता।

काशी में होनेवाले हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में भाषा पर विवाद चला । महामना मालवीयजी अध्यक्षता कर रहे थे । हिन्दी और हिन्दुस्तानी के पक्ष-विपक्ष में जोरदार भाषण हुए । बाबू साहब बोलना न चाहते थे किन्तु भाषणों ने उन्हें इतना उत्तेजित कर दिया कि वे मंच के नीचे ही अपने जरा-जर्जरित शरीर को लकुटी के बल खड़ा करके बोलने लगे । किसी ने कहा कि ध्वनिवर्द्धक ले लीजिए, तो और अधिक आवेग में बोले—“हिन्दी की ध्वनियाँ स्वयम् पूर्ण हैं, उन्हें किसी वर्द्धक-अर्द्धक की आवश्यकता नहीं । उसका शब्द-भण्डार तथा साहित्य समृद्ध और सम्पन्न है । हिन्दी आज किसी भी भाषा से होड़ ले सकती है । हिन्दुस्तानी उसका किंचित् बाल बाँका नहीं कर सकती । उसमें राष्ट्रभाषा बनने की पूर्ण क्षमता है ।” करतल-ध्वनि में अपनी आवाज को दबते जान वे और जोर से दहाड़े—“और मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनकर रहेगी । किसी की मजाल नहीं कि वह इसे यह पद पाने से रोक सके ।” उनकी भविष्यवाणी सत्य हुई और आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है ।

प्रेमचंद

जुलाई का महीना था। हिन्दू कालेज, काशी में भरती होनेवाले विद्यार्थियों की भीड़ लगी थी। एक गरीब बालक जिसके हँसमुख वदन को निराशा ने मलिन कर दिया था प्रिंसिपल रिचर्डसन के कमरे में घुसकर और अभिवादन कर बोला—“प्रिंसिपल साहब मैंने क्वीन्स कालेज से सैकेण्ड डिवीजन में मैट्रिक परीक्षा पास की है। आगे पढ़ने की मेरी बड़ी इच्छा है। मैं बहुत गरीब हूँ। अगर आप मेरी फीस माफ कर दें तो बड़ी मेहरबानी होगी।” क्वीन्स कालेज के प्रिंसिपल की भाँति रिचर्डसन महोदय ने भी सहायता करने से इन्कार कर दिया और बेचारा बालक जो दो मिनट पहले आशा और निराशा के बीच गोते लगा रहा था निराशा के किनारे आ गया। परन्तु उसने उद्योग करना न छोड़ा। कुछ समय उपरान्त वही बालक एक सिफारिशी पत्र लेकर प्रिंसिपल से फिर मिला। रिचर्डसन साहब ने बालक को प्रवेश परीक्षा देने के लिए भेजा। गणित में अयोग्य देखकर प्रिंसिपल ने फीस माफ करने में असमर्थता बताई। अतएव कालेज में पढ़ने की आशा छोड़कर वह उदर-निमित्त ट्यूशन की तलाश में निकला। ईश्वर ने कुछ सुनाई की। पाँच रुपये की एक ट्यूशन मिली, किन्तु पाँच रुपल्ली में क्या होता था ?

बालक के पिता पोस्ट आफिस के बाबू थे। किसी तरह गृहस्थी चलाते थे। बच्चे की पढ़ाई का प्रबन्ध करने में असमर्थ थे। बालक एक पुस्तक-विक्रेता के सम्पर्क में आ गया था जिसकी किताबें वह स्कूल में बिकवाता था और उसके उपलक्ष्य में अपनी दुकान से घर लाकर पढ़ता था। निकट ही एक सहपाठी की तम्बाकू की दुकान थी जहाँ

वह विनोद के लिए चला जाता था और तम्बाकू के बड़े-बड़े काले पिण्डों के पीछे बैठ 'तिलस्म होशरुवा', रतननाथ सरशार और रैनाल्ड के उपन्यासों के अनुवाद पढ़ा करता था। इस पढ़ाई से उसकी रचि कथा-कहानी की ओर बढ़ी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उसका विवाह कर दिया गया। एक काली, कुरूप, कर्कश स्त्री गले पड़ी। विवाह के एक वर्ष बाद सब भार बालक पर छोड़ पिता स्वर्ग सिधारे। उसने ट्यूशन करके जैसे-तैसे मैट्रिक पास किया। नित्य अपने गाँव लमही से पाँच मील काशी आता, पढ़ता-पढ़ाता और रात्रि को थका-हारा घर वापस जाता। किन्तु अब नया आगे चलना कठिन हो गया। पिता कुछ छोड़ न गए थे। अतएव वह गरीबी के कराल भँवर में पड़ गई। दो-ढाई रुपया प्रायः घर भेजकर शेष में गुजर होने लगी। पाँच रुपल्ली में छः गुने दिन काटना लोहे के चने चबाना था।

एक दिन राम से काम पड़ ही गया। महीना समाप्त न हुआ था, किन्तु धन समाप्त हो गया। फिर दो दिन चने चबाने पड़े। तीसरा दिन आया, चने भी न मिले। जाड़े का दिन तो किसी तरह कट गया किन्तु लम्बी रात खाट पर करवटें बदलते बीती। सबेरा हुआ, किन्तु दुकानें खुलते-खुलते युग बीत गए। उदराग्नि से पीड़ित एक पुस्तक बगल में दबाए बालक धीरे-धीरे एक दुकान पर पहुँचा। चारों ओर से निराश होकर उसने चक्रवर्ती अकगणित की कुजी बुकसेलर के हाथ में रख दी। पुस्तक आधे दामो में बिकी। जैसे ही वह एक रुपया लेकर सड़क पर चलने को मुड़ा कि एक लम्बी मूँछवाले व्यक्ति ने उसे बुलाकर पूछा—“नौकरी करोगे ?” डूबते को तिनके का सहारा मिला और उसने बड़ी नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—“जी हाँ।” उस व्यक्ति ने उसे अपने स्कूल में अठारह रुपये मासिक पर सहायक शिक्षक रख लिया।

इस बालक के पिता ने इसका नाम धनपतराय रखा था किन्तु उसके चाचा इसे नवाबराय के नाम से पुकारते थे। परन्तु नामों की कैसी विडम्बना कि धनपति और नवाब होते हुए भी घर में मुफलिसी ने डेरा

डाल रखा था। “सब दिन होत नहि एक समान।” समय ने पलटा खाया। प्रतिभा ने दरिद्रता का गला दबोचा। दूकान पर जाकर पुस्तक बेचनेवाले के घर स्वयं पुस्तक-विक्रेताओं की भीड़ लगने लगी। उस समय यह एक तीसरे नाम से प्रसिद्ध थे जिसके रखने की आवश्यकता एक विचित्र घटना के कारण पड़ी। प्रायमरी स्कूल के शिक्षक से बढ़कर यह सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर हो गए थे। नवाबराय के कल्पित नाम से यह उर्दू में लेख और कहानियाँ लिखा करते थे। जिस समय यह महोबा में थे इनकी पाँच कहानियों का एक संग्रह ‘सोजेवतन’ नाम से जमाना प्रेस, कानपुर से प्रकाशित होकर पाँच आने में बिकने लगा। इन कहानियों में देशप्रेम की उत्कृष्ट भावना को प्रोत्साहित किया गया था जिससे कि सरकार की नजर में पुस्तक विद्रोहात्मक ठहराई गई। खुफिया पुलिस ने लेखक का पता लगाया और कलक्टर ने धनपतराय को तुरन्त समक्ष भेट करने का परवाना भेजा। रातोंरात तीस-चालीस मील बैलगाड़ी पर चलकर वे कलक्टर से मिले। मेज पर पड़ी ‘सोजेवतन’ की ओर सकेत करते हुए कलक्टर ने पूछा—“यह पुस्तक तुमने लिखी है?”

उन्होंने उत्तर दिया—“जी हाँ।”

कलक्टर—“इसे पढ़कर जरा मतलब तो समझाइए।” उन्होंने एक कहानी पढ़कर उसका आशय बताया।

तब कलक्टर ने बिगड़कर कहा—“तुम्हारी कहानियों में सेडीशन भरा है। अपने भाग्य को सराहो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जाते। तुमने अंग्रेजी सरकार की बड़ी तौहीन की है। ‘सोजेवतन’ की सारी कापियाँ मेरे हवाले करो और मुझे दिखाए बिना कभी कुछ न लिखो।”

‘‘ पुस्तक की सब प्रतियाँ जलवा दी गईं, नौकरी पर आ पड़ी थी, किन्तु डिप्टी-इन्स्पेक्टर की सहायता से किसी तरह बला टली। परन्तु लेख दिखाने की ऐसी पख लगी थी कि लेख महीनों में लौटकर आता था जबकि लिखना-पढ़ना इनका रोज का धन्धा था। अतएव इन्होंने

अपने मित्र 'जमाना' के सम्पादक मुशी दयानारायण निगम को लिखा—
 “भाई अब नवाबराय मरहूम हुए उनके जॉनशीन कोई और साहब
 होंगे।” मित्र ने एक नया नाम ‘प्रेमचंद’ सुझाया। उन्होंने स्वीकार
 करते हुए लिखा—“प्रेमचंद अच्छा नाम है. मुझे भी पसन्द है। अफसोस
 सिर्फ यह है कि पाँच-छ साल में नवाबराय को फिरोज (प्रसिद्ध करने)
 की जो मेहनत की गई वह सब अकारण गई। यह हजरत किस्मत के
 हमेशा लड्डू रहे और शायद रहेगे।” इस प्रकार नवाबराय की आत्मा
 ने प्रेमचंद का चोला पहिनकर साहित्य-सेवा जारी रखी यद्यपि यह
 परिवर्तन बहुत दिनों तक गुप्त ही रखा गया। किन्तु इस घटना से
 विदेशी शासकों के विरुद्ध उनके सघर्ष का सूत्रपात हुआ जो आगे चलकर
 हर प्रकार के शोषण तथा प्रतिक्रियावाद का विरोधी बनकर उनकी
 साहित्यिक कृतियों को प्रतिभा प्रदान करता रहा।

उनका एक चौथा नाम था जो मित्रमण्डली तक ही सीमित था।
 वे बड़े विनोदशील, हाजिरजवाब और जिन्दादिल व्यक्ति थे। सदा
 कहकहा मारकर हँसते थे और वह भी इतनी जोर से कि देखनेवाले
 को हँसी आ जाए। वे घण्टो हँस सकते थे और अपनी बातों पर भी
 हँस पड़ते थे। इसी से उनके मित्रों ने उनका नाम ‘बम्बूक’ रखा था
 जिसका अर्थ हँसोड़ या कहकहेबाज है। इलाहाबाद में मित्रों ने एक
 लाफिंग क्लब स्थापित किया था जिसकी सदस्यता इनको सौपी थी।
 जरा मौका मिलते ही वे आदमी की उदासी को अपने कहकहों से उड़ा
 देते थे। उनसे मिलनेवाला तो यह महसूस करने लगता था कि उसमें
 किसी असाधारण उल्लास का समावेश हो गया है। एक बार पण्डित
 बनारसीदास से बातें करते हुए दो बज गये तो उन्होंने कहा—“खैर
 खुदा की, श्रीमतीजी के ग़िस घड़ी नहीं, नहीं तो इस देरी के लिए भाड़
 बताती।” और एक जोर के कहकहे से कमरा गूँज उठा। किसी ने
 पूछा—“क्यों साहब, क्या आपको गुस्सा कभी नहीं आता? क्या आप
 घर में भी गुस्सा नहीं करते?” जवाब में केवल कहकहे सुन पड़े।

प्रयाग के हिन्दू बोर्डिंग की एक सभा में “कहानी कैसे लिखना चाहिए” बताने के लिए वे खड़े हुए और खड़े होते ही जोर से हँस पड़े। फिर कुछ गम्भीर होकर बोले—“मैं कहानी लिखता हूँ, लेकिन खुद नहीं जानता कहानी कैसे लिखी जाती है। मेरे एक मित्र ने जिद पकड़ी कि वे मुझसे कहानी-कला सीख ही लेगे। मैंने उन्हें बता भी दिया। आप भी सुन लीजिए। कलम हाथ में पकड़कर, दवात में डुबोकर, कोरे कागज पर कहानी लिखी जाती है।” इतना कहकर वे अपनी संक्रामक हँसी हँसे और श्रोताओं ने उनका साथ दिया। फिर बोले—“कहानी लिखने के लिए कहानियों और अखबारों को खूब पढ़िए और किसी साधारण घटना को लेकर उस पर गौर कीजिए फिर जानी हुई बैकग्राउण्ड में रखकर उसको बढाइए। लेकिन मेरी समझ में हरेक कहानी-लेखक में थोड़ा-बहुत गुण्डापन होना चाहिए। मुझमें भी कुछ गुण्डापन है।” यह कहते ही उनकी श्याम सघन मूँछों के मध्य दस्तावलि विद्युत्-सी चमक उठी जिसके बाद ही अट्टहास का शब्द मेघनाद-सा गरज उठा।

दिल खोलकर हँसना इनकी जिन्दगी का राज था। वे हँसते-हँसते वस्तुस्थिति का मुकाबला करते थे। वे जीवन की विपत्तियों और कठिनाइयों से हताश न होते थे वरन् उन्हें परास्त कर कहकहे बुलन्द करते थे। वे जीवन के एक विकट खिलाड़ी थे जो मुसीबतों के बावजूद खुद हँसते थे और दूसरों को हँसाते थे। उन्होंने एक मित्र को लिखा था—“जिन्दगी के मैदान में वही शख्स तारीफ का मुस्तहक होता है, जो जीत से फूलता नहीं, और हार में रोता नहीं। जीते तब भी खेलता है और हारे तब भी खेलता है।.....हमारा काम तो सिर्फ खेलना है, खूब दिल लगाकर खेलना, खूब जी ढोड़कर खेलना, अपने को हार से इस तरह बचाना गोया हम कौनैन (ससार) की दौलत खो बैठेंगे। लेकिन हारने के बाद, पटखनी खाने के बाद, गर्द भाड़कर खड़े हो जाना चाहिए और फिर खम ठोककर हरीफ (प्रतिद्वन्दी) से कहना चाहिए कि एक बार और।”

उनकी यह जिन्दादिली, विनोदप्रियता उनके वर्णानो मे भी परिलक्षित होती थी। 'बडे भाई साहब' को देखिये—'मेरे बडे भाई साहब मुझसे पाँच साल बडे थे, लेकिन केवल तीन दरजे आगे। उन्होने भी उसी उम्र मे पढना आरम्भ किया था, जब मैने शुरू किया था, लेकिन शिक्षा जैसे महत्व के मामले मे वह जल्दबाजी से काम लेना पसन्द न करते थे। इस भवन की बुनियाद खूब मजबूत डालना चाहते थे, जिस पर आलीशान महल बन सके। एक साल का काम दो साल मे करते थे। कभी-कभी तीन साल भी लग जाते थे। बुनियाद ही पुख्ता न हो तो मकान कैसे पायेदार बने।" 'विनोद' मे "महाशय चक्रधर सिर घुटाते थे, किन्तु लम्बी चोटी रख छोडी थी जो चटियल मैदान के किसी भखाड़ वृक्ष की तरह दीख पड़ती थी। उनका कथन था कि चोटी के रास्ते शरीर की अनावश्यक उष्णता बाहर निकल जाती है और विद्युत् प्रवाह शरीर मे प्रविष्ट होता है।" 'गोदान' मे "गोबर कहकहा लगाकर बोला—बहुत अच्छा किया तुमने। दूध से नहा गया होगा, तिलक-छापा भी धुल गया होगा। मूँछें भी क्यों न उखाड़ ली।" ऐसे कहकहों के बीच जीवन-सघर्ष आगे बढ़ता चलता है।

अपनी कुरूप, कर्कश पत्नी को धनपतराय ने त्याग दिया था। विमाता के बहुत जोर देने पर भी दूसरी शादी न करना चाहते थे किन्तु जब एक बाल-विधवा की शादी करने का इन्होने विज्ञापन पड़ा तब पत्र-व्यवहार करके फतहपुर पहुँचे और सामाजिक रूढियों को साहसपूर्वक तोड़कर बिना दहेज के चुपचाप शिवरानीदेवी से विधवा-विवाह कर लिया। धनपतराय की इच्छा वकील बनने और एम० ए० पास करने की थी। परन्तु "पाँव मे लोहे की नही, अष्टधातु की बेडियाँ थी और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।.....गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी कभी उस पर न चढ़ सका।" परिस्थितियोवश वकील के स्थान पर उन्हें मास्टर बनना पड़ा। किन्तु उन्होने एम० ए० पास करने की अपनी साध को पूरा कर लिया।

गरीबी का स्वयं शिकार रहने के कारण उन्हें दरिद्रवर्ग से पूरी सहानुभूति थी। किसान, मजदूर और श्रमजीवी वर्ग के प्रति उनका अधिक आकर्षण था और उनकी दशा सुधारने की ओर अधिक ध्यान रखते थे। बेगार में दूध, घी तथा अन्य खाद्यसामग्री और नजराना लेना अफसरों के लिये एक नियम-सा हो गया था। किन्तु सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर की हैसियत से वे इन्हे स्वीकार न करते थे और बहुत दबाव पड़ने पर कहते—“नहीं साहब, यह मेरा सिद्धान्त नहीं है, इसके लिए मुझे क्षमा करें।” जब इनके प्रेस के कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी तो इन्होंने मजदूरों का पक्ष लिया और स्वयं अपने मैनेजर को दोषी बताया। इनकी पत्नी ने कई बार बड़ी कठिनाई से रुपये बचाकर इन्हे गरम कपड़े बनवाने को दिये। मगर हर बार उन्होंने वह रुपये मजदूरों को बाँट दिये। घर पर जब पूछा गया कि कपड़े कहाँ हैं तो हँसकर बोले—“कैसे कपड़े? वह रुपये तो मैंने मजदूरों को दे दिये। शायद उन लोगों ने कपड़ा खरीद लिया हो। जो दिन-भर हमारे प्रेस में मेहनत करें वे भूखो मरे और मैं गरम सूट पहनूँ, यह शोभा नहीं देता।”

एक नौकर ने उन्हें ऐसा धोखा दिया कि एक हजार रुपये नकद और डेढ़ हजार का जेवर लेकर चम्पत हो गया। प्रेमचंद ने थाने पर उसकी रिपोर्ट न लिखाई और पत्नी से कह दिया—“उसे जरूरत थी ले गया, ले जाने दो। हमारा काम भी चलता ही रहेगा।” सन् 1928 में वायसरॉय के लखनऊ आने पर तालुकेदारों ने चालीस हजार रुपये की आतिशबाजी का आयोजन किया। प्रेमचंद ने इसकी चर्चा घर में की तो पत्नी ने कहा—“इतनी बड़ी आतिशबाजी कभी नहीं देखी, क्या देखने चलेगे?” वे बोले—“हाँ, क्यों नहीं चलाँगा! गरीबों का घर फूँक तमाशा देखा जायगा।”

धनाभाव-जन्य कठिनाइयों को स्वयं भेल चुकने के कारण किसी के रुपये उधार माँगने पर वे उसकी तुरन्त व्यवस्था करते थे। किन्तु कभी रुपये वापस मिलने की आशा से न देते थे। कई अपनी दुखगाथा सुनाकर

इनसे सैकड़ों रुपये ऐठ ले गये जिसका कर्ज वे साहूकारों को वर्षों कहानियाँ लिखकर निपटाते रहते थे। एक बगाली बाबू को तो कई सौ रुपये सफरखर्च, कपड़े बनवाने और शादी करने के लिए चुपचाप दे दिये थे। जब तकाजा आया तो घर में मालूम हुआ और चखचख मची। वे बोले—“क्या करूँ ? उन्हें सख्त जरूरत थी। मुझसे नहीं रहा गया।” ढपोरशख की कहानी इसी सत्य घटना पर आधारित है।

एक बार सकुटुम्ब रेल-यात्रा कर रहे थे कि बहुत-से देहाती इनके डिब्बे में घुस आये। प्रेमचंद बोले—“भाई, यह ड्योढा दर्जा है, किराया ज्यादा लगेगा।”

“क्या करे बाबूजी, दो दिन से पड़े हैं।”

प्रेमचंद—“तुम लोग कहाँ से आ रहे हो, कहाँ जाओगे ?”

देहाती—“हम शीतलाजी के दर्शन करने गये थे।”

प्रेमचंद—“शीतलाजी के दर्शन में तुम्हें क्या मिला ? सच-सच बताओ तुम्हारा क्या खर्च हुआ ?”

देहाती—“एक-एक आदमी के पीछे पन्द्रह रुपये के ऊपर।”

प्रेमचंद—“तो तुमने चार महीने का खाने का नाज बेच दिया। इससे अच्छा होता कि देवीजी की पूजा घर पर ही कर लेते। देवीजी सब जगह रहती है। देवी-देवता तभी प्रसन्न होते हैं जब तुम आराम से रहो।”

शिवरानी ने प्रेमचंद से कहा—“गाड़ी बेहद भरी है। सड़ी गरमी पड़ रही है। साँस लेना कठिन है। मेरा तो दम घुट रहा है। इन्हें अगले स्टेशन पर उतार दीजिये।”

प्रेमचंद—“तुम इन्हीं के लिए तो जेल जाती हो, लड़ाई लड़ती हो और इन्हीं को हटा रही हो। मुझे तो दया आती है। बेचारे धर्म के पीछे भूखों मर रहे हैं।”

शिवरानी—“यह गाड़ी में खड़े-खड़े क्या सीखेंगे ? इन्हीं के लिए तो आप पोथा-का-पोथा लिखते हैं।”

प्रेमचंद—‘मगर यह पढ़ तो नहीं सकते। अगर मेरे नाविलो की फिल्मे बनाकर मुफ्त दिखाई जाएँ तो यह कुछ समझेंगे।’

इतने में गाड़ी रुकी और एक पुलिसमैन ने इन देहातियों को डाँट-डपटकर नीचे उतारा। प्रेमचंद को क्रोध आ गया और बोले—“तीसरे दर्जे में कहीं जगह हो तो बैठे। यह राहजनी है कि किराया ले लिया और गाड़ी में बैठने को जगह नहीं।” वे भी उनके साथ उतर पड़े और जब तक सबको स्थान न मिल गया अपने डिब्बे में वापस न आये। ऐसी थी उनकी सहृदयता और दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति जो कागजी-मात्र नहीं बरन् पूरे जीवन में उतर आई थी।

एक सुशिक्षित व्यक्ति घोर दरिद्रता के भँवर में पड़ गये। उन्होंने नौकरी का प्रयत्न किया, घनाढ़्यों से याचना की, सम्पादकों से प्रार्थना की, परन्तु गरीब की कौन सुनता है। वर्षा में घर गिर गया और मूसलाधार पानी में जर्जर छत के नीचे रात-भर वृद्धा माता के साथ इस आशा में बैठे रहे कि वह गिरकर उनकी विपत्तियों का अन्त करेगी। निराश होकर वे दूसरे दिन सबेरे बरसाती नदी में आत्महत्या करने गये। पक्षी में कूदने पर उन्हें माता का मोह बाहर खींच लाया और प्रेमचंद का नाम स्मरण आते ही एक आशा-किरण भलक गई। जब में पड़े दो पैसों का पोस्टकार्ड लिख भेजा। तीसरे दिन उत्तर आया। लिफाफा खोलते ही दस रुपये का नोट खिसककर नीचे गिर पड़ा। सारे शरीर में रोमांच हो आया और कम्पित करों से पत्र लेकर पढ़ा, लिखा था—“तुमने मुझे अभी तक क्यों नहीं लिखा? घर के आदमियों से संकोच कैसा। ‘हंस’ के लिये लिखो। देखे दस रुपये का नोट तुम तक पहुँचता है कि नहीं।”

लेखक की यह सेवा-भावना उनकी रचनाओं में भी व्याप्त हो गई थी। एक बार दिल्ली पहुँचने पर एक सेठ ने प्रेमचंद तथा अन्य साहित्यिकों को भोज के लिए आमन्त्रित किया। अपना वैभव दिखाते हुए सेठजी ने बड़ी विनम्रता से कहा—“यह सब आपकी ही कृपा का फल

है कि मैं आज इस दशा को प्राप्त हूँ।” हँसते हुए प्रेमचंद बोले—“अजी मेरी क्यों ? ईश्वर की कृपा कहिये।” तब सेठजी ने अपनी कहानी सुनाई। वे बड़े गरीब हो गये थे और कलकत्ता में दर-दर मारे फिरे। एक सध्या को थककर एक स्थान में विश्राम करने लगे। व्याकुल चित्त को बहलाने के लिए उन्होंने एक पत्रिका के विशेषांक में प्रेमचंद की एक कहानी पढ़ना आरम्भ किया। उस कहानी से उन्हें इतना प्रोत्साहन मिला कि वे फिर रोजगार में लग गये और धीरे-धीरे फिर धन-धान्य-सम्पन्न हो गये।

नौकरी के सिलसिले में प्रेमचंद कानपुर, महोबा, बस्ती तथा गोरखपुर में रहे। कानपुर में इनका परिचय ‘जमाना’-सम्पादक मुशी दयानारायण निगम से हुआ जो आगे चलकर भाईचारे में परिणत हो गया। उनके साहचर्य से नवाबराय को उर्दू साहित्य सृजन में बड़ा प्रोत्साहन मिला। महोबा में सोजेवतन-काण्ड और लेखन-प्रतिबन्ध से इनका चित्त बड़ा खिन्न हुआ और कठिनाइयों का सामना करते हुए भी इनकी साहित्यिक अभिरुचि दृढ़ हुई। बस्ती में प० मन्नन द्विवेदी गजपुरी की साहित्य-चर्चा से हिन्दी की ओर रुचि बढ़ी। एक बार द्विवेदीजी ने चार खॉंची मछलियाँ भेजते हुए निम्नांकित दोहा प्रेमचंद को भेजा—

धीमर ने फास्यो अभी दीन हीन सफरीन।

प्रेमचन्द भोजन करे विद्या बुद्धि प्रवीन।

इतनी मछलियाँ क्या होगी ? वे मुहल्ले-भर में बँटवाई गईं तब कही खत्म हुईं। पण्डितजी के फिर मिलने पर मछलियों पर काफी कहकहा हुआ।

गोरखपुर में महावीरप्रसाद पोद्दार तथा रघुपतिसहाय फिराक से मित्रता हुई। पोद्दार की प्रेरणा से उन्होंने हिन्दी में कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया। पहले फ़ारसी लिपि और हिन्दी भाषा में लिखते थे फिर नागरी लिपि में लिखने लगे। उर्दू में इनकी रचनाओं का प्रचार सीमित था। अपनी बात अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचाने की इच्छा

ने भी इन्हे हिन्दी की ओर आने में बल दिया। नौकरी करते हुए उन्होंने अफसरो और शिक्षितों को जनता के प्रति निर्दयता और उपेक्षापूर्ण व्यवहार करते देखा था। अदालत, जमींदार और अन्य कर्मचारियों को बेसहाय किसानों का शोषण करते अनुभव किया था। जनसाधारण के कष्टों पर द्रवित होनेवाला इनका हृदय इनकी दशा पर उद्विग्न हो उठा था। उन्होंने लिखा—“जिसे रोटियों के लाले हों, कपड़ों को तरसे, जिसकी आकांक्षा का भवन सदा अन्धकारमय हो, जिसकी इच्छाएं कभी पूरी न हुई हों उसकी नीयत बिगड़ जाय तो आश्चर्य की बात नहीं।” वे कहा करते थे कि अफसर बनकर इन्सान इन्सान नहीं रहता। इस निष्कर्ष पर वे प्रत्यक्ष अनुभवों द्वारा पहुँचे थे। गोरखपुर में एक शाम को जब यह आरामकुर्सी पर लेटे अखबार पढ़ रहे थे तो सामने सड़क से मोटर पर स्कूलों के इन्स्पेक्टर साहब निकले। प्रेमचंद ने उठकर आदाब नहीं बजाया। इन्स्पेक्टर ने मोटर रोकी और प्रेमचंद को बुलाकर कहा—“तुम बड़े मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है। उठकर सलाम भी नहीं करते।”

प्रेमचंद ने उत्तर दिया—“जब मैं स्कूल में रहता हूँ, तब नौकर हूँ। बाद में मैं अपने घर का बादशाह हूँ। आपकी यह हरकत बेजा है। इस पर मुझे अधिकार है कि आप पर केस चलाऊँ।”

इन्स्पेक्टर अपना-सा मुँह लेकर चले गए। फिर मित्रों के बहुत समझाने पर प्रेमचंद ने अदालती कार्यवाही न की। एक मित्र को लिखा—“मैं जो आजिज हूँ वह मातहतों से, कार्य ऐसा करना चाहता हूँ जिससे बजुज मेरी तबियत के और किसी का तकाजा न हो।” जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड का सुमाचार पढ़कर प्रेमचंद बड़े दुःखी हुए और नौकरी छोड़ने पर आमादा हो गए। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी गोरखपुर आये जिसके सम्बन्ध में आप लिखते हैं—“यह सन् 1920 की बात है। असहयोग आन्दोलन जोरो पर था। महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। क्या शहर, क्या देहात, अदालत जनता दौड़

पडी। दो लाख से कम का जमाव न था। ऐसा समारोह अपने जीवन में मैंने कभी न देखा। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी बीस साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।”

नौकरी छोड़कर करघे का धन्धा किया। पहले पोद्दार के साथ गोरखपुर में फिर स्वयं बनारस में। मगर वह न चल सका और साहित्य-सृजन में फिर लग गए। किन्तु पुस्तकें प्रकाशित करनेवाला कोई न था। “इस सूबे में पब्लिशरो का क्या कहना है।” बुकसेलरो का तजरबा आपसे ज्यादा मुझे तत्खं हुआ है। एक पब्लिशर मेरे डेढ सौ रूपये दबाये बैठा है। लाहौर ही में दूसरा पब्लिशर मेरे सात सौ रूपये हजम करना चाहता है। अखबारात का यह हाल है, बुकसेलरो का यह। बेचारा मुसन्नफ (लेखक) क्या करे।” प० बनारसीदास चतुर्वेदी के बाद में किये गए एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने लिखा—“आमदनी की कुछ न पूछिये। समस्त प्रारम्भिक पुस्तकों का प्रकाशन-अधिकार पब्लिशर्स को दे दिया। ‘सेवासदन’, ‘प्रेमाश्रम’, ‘सप्त सरोज’ और ‘संग्राम’ के लिए हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने एकमुश्त तीन हजार रुपये दिए थे और निबन्ध के लिए अब शायद दो सौ मिले। दुलारेलालजी ने ‘रगभूमि’ के अठारह सौ रुपये दिये थे। दूसरे संग्रह के लिए सौ-दो सौ रुपये मिल गए होंगे। ‘कायाकल्प’, ‘आजादकथा’, ‘प्रेमतीर्थ’, ‘प्रेमप्रतिमा’, ‘प्रतिज्ञा’ मैंने खुद छापी। मगर मुश्किल से अभी तक ६ सौ रुपये वसूल हुए हैं। रचनाओं से फुटकर आमदनी पच्चीस रुपये महीने हो जाती है, मगर कभी-कभी इतनी भी नहीं। अनुवाद से शायद दो हजार से अधिक नहीं मिला।”

प्रकाशन की कठिनाइयों को परास्त करने के लिए उन्होंने अपना सरस्वती प्रेस खोला किन्तु इससे वे और झुझट में पड़ गए। उन्होंने मासिक ‘हंस’ और साप्ताहिक ‘जागरण’ निकालना आरम्भ किया; जिनमें घाटा होने के कारण अपनी गाँठ का पैसा भी लगता रहा।

सरकारी जमानत और ज़ब्ती की भी आफतें आईं, वह भी भेली। दिन-भर प्रेस में लग जाने के कारण लिखने-पढ़ने का काम ठप्प होते देख उन्होंने रात्रि में दो बजे तक जगना आरम्भ किया। स्वास्थ्य पहले ही ठीक न था। बीमार पड़ गए। फिर भी 'हंस' का सम्पादकीय लिखने बैठ गए। शिवरानीदेवी के मना करने पर उन्होंने हँसकर कहा—“लेख नहीं लिखूंगा तो 'हंस' कैसे चलेगा? 'हंस' अगर समय पर नहीं निकलेगा तो ग्राहक को परेशानी होगी। वह यह थोड़े ही जानता है कि मैं बीमार हूँ। उसने पैसे दिए हैं और वह वक्त पर 'हंस' चाहता है।”

शिवरानीदेवी ने कहा—“अब लिखोगे तो कलम तोड़ दूंगी, कागज फाड़ दूंगी।” प्रेमचंद ने लाचार होकर कम्पोजीटर से एक घण्टे बाद आने को कहा और पत्नी से बोले—“तुमने मुझे लिखने नहीं दिया, आदमी बेकार बैठे है।

शिवरानी—“हंस कौन मोती उगल रहा है?”

प्रेमचंद हँसकर बोले—“साहब, हंस मोती उगलता नहीं, चुगता है।” बहस फिर भी जारी रही। पत्नी ने कहा—“तुम इतना त्याग किसलिए कर रहे हो?”

प्रेमचंद—“त्याग नहीं नशा है, अगर मैं यह काम न करूँ तो तस्कीन नहीं मिलती है।”

उन्हीं दिनों अपने मित्र निगमजी को लिखा—“प्रेस के जजाल से किसी तरह रिहाई नहीं है। अब तक पन्द्रह हजार का घाटा हो चुका है। मगर क्या करूँ? गले में जो ढोल पड़ गई है, उसे बजाए जाता हूँ।”

अलवर-नरेश उपन्यास-कहानियों के शौकीन थे। उन्हें प्रेमचंद की रचनाएँ बहुत पसन्द आती थी। अतएव उन्होंने अपने पाँच-छः आदमियों को एक पत्र देकर भेजा जिसमें प्रेमचंद को सपरिवार अलवर आमन्त्रित किया था। चार सौ रुपया मासिक और मोटर-बैंगला मुफ्त देने को कहा था। उन आदमियों को यह कहकर लौटाल दिया कि मैं

बहुत बागी आदमी हूँ; इस वजह से मैंने सरकारी नौकरी छोड़ दी है। और महाराजा साहब को पत्र लिखा—“मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है। आप जो पद मुझे दे रहे हैं मैं उसके योग्य नहीं हूँ। मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं।”

गवर्नर सर मात्कम हेली ने एक ‘सर’ खिताबधारी प्रेमचंद के मित्र से कहा—“धनपतराय को आप पत्र लिखें, मैं उनको रायसाहबी देना चाहता हूँ क्योंकि वे हमारे प्रान्त के सबसे बड़े लेखक हैं।” मित्र ने प्रेमचंद को यह बात लिखी और सलाह दी कि वे गवर्नर से मिलें। प्रेमचंद ने मित्र को उत्तर लिख भेजा—“मैं जनता का तुच्छ सेवक हूँ। अगर जनता की रायसाहबी मिलेगी तो सिर-आँखों पर। गवर्नमेंट की रायसाहबी की इच्छा नहीं। गवर्नर साहब को मेरी तरफ से धन्यवाद दे दीजिएगा।”

माधुरी के सम्पादन-काल में प्रेमचंद ने ‘मोटेराम शास्त्री’ नाम की एक कहानी लिखी। उस कहानी पर एक शास्त्री महोदय ने मुकदमा चलाया। माधुरी के संस्थापक विष्णुनारायण भागवत को वह कहानी बड़ी पसन्द आई थी, अतएव उन्होंने देहरादून के दो बैरिस्टर नौ-नौ सौ रुपये पर बुलाये। बहस सुनने के लिए सैकड़ों की भीड़ अदालत में जमा हुई। मजिस्ट्रेट ने ‘मोटेराम शास्त्री’ से कहा—“आपको और कुछ कहना है? अब तो बेहतर यही है कि आप चुपके से खिडकी के बाहर निकल जाइए।” प्रेमचंद यह सुनकर मुस्कराये। इसके बाद माधुरी का वह अंक हाथोहाथ बिक गया।

सन् 1932 में प्रेमचंद का एक लेख ‘आज’ में छपा। उस पर काशी के हिन्दू उनसे बहुत अप्रसन्न हुए। हिन्दूसभा का इतना जोर था कि कांग्रेसवाले भी उनकी ही पक्ष लेते थे। कुछ कांग्रेसवाले ने आकर प्रेमचंद को सचेत किया। अन्दर आने पर पत्नी ने पूछा—“यह लोग क्या कह रहे थे?”

बात टालते हुए बोले—“कुछ नहीं जी । वह लेख बड़ा सुन्दर है ।”

पत्नी—“मारने की धमकी आखिर क्यों दे रहे थे ?”

प्रेमचंद—“यह सब हिन्दूसभावालों का काम है ।”

पत्नी—“ऐसा लेख आप क्यों लिखते हैं कि लोग दुश्मन बनें । कभी गवर्नमेण्ट, कभी पब्लिक, कोई-न-कोई आपका दुश्मन रहता ही है । आप ढाई हड्डी के तो आदमी हैं ।”

प्रेमचंद—“लेखक को पब्लिक और गवर्नमेण्ट अपना गुलाम समझती है । आखिर लेखक भी कोई चीज है । वह सभी की मर्जी के मुताबिक लिखे तो लेखक कैसा ? लेखक का भी अस्तित्व है । गवर्नमेण्ट जेल में डालती है, पब्लिक मारने की धमकी देती है । इससे लेखक डर जाए और लिखना बन्द कर दे ?”

पत्नी—“सब कुछ करे, मगर अपनी जान का दुश्मन तैयार न करे ।”

प्रेमचंद—“लेखक जो लिखता है अपनी कुरेदन से लिखता है ।”

पत्नी—“यह सब ठीक है, लेकिन रोज का भगडा ठीक नहीं ।”

प्रेमचंद—“यह दुनिया ही भगडे की है । यहाँ घबड़ाकर भागने से काम नहीं चलता । यहाँ मैदान में डटे रहना पड़ता है ।” ऐसी अनेक आपत्तियाँ और कठिनाइयाँ जीवन में आती रही और वे कभी मैदान छोड़कर नहीं भागे ।

किसी काम को हाथ में लेकर अधूरा छोड़ना, हार मानना प्रेमचंद के स्वभाव के प्रतिकूल था । वे पूर्ण मनोयोग से काम के पीछे पड़ते थे और असफलता को सफलता में परिणत करने का भरसक प्रयत्न करते थे । ‘हंस’ के लिए मोती ढूँढने वे बम्बई भी गये । अजन्ता सिनेटोन कम्पनी ने नौ हजार रुपया साल पर इन्हें आमन्त्रित किया । शिवरानी देवी से सलाह की तो उन्होंने मना कर दिया । तब प्रेमचंद बोले—“बिना जाए काम भी नहीं चलता । यह ‘हंस’ और ‘जागरण’ कैसे चले ? अब जो इन ह्वाथियों को गले में बाँधा है तो उनको चारा नहीं दोगी ? अखिर उनको भी जिन्दा रखना है ।”

बम्बई पहुँचकर उनकी पहली कहानी की फिल्म 'मिल-मजदूर' बनी। डायरेक्टरों ने कहानी की खूब काट-छाँट की उसे उन्होंने किसी तरह बरदाश्त किया। फिर सेसर की कैची चली जिसने फिल्म की धज्जियाँ उड़ा दी और उसका आकार विकृत कर प्रभाव नष्ट कर दिया। फिल्म की तस्वीरें दुबारा उतारकर 'गरीब मजदूर' के नाम से प्रस्तुत की गई, किन्तु वह भी न चल सकी। इसके बाद प्रेमचंद ने दो फिल्में और लिखी किन्तु उनमें भी निराशा हुई। अपनी पत्नी से बोले— "यहाँ तो जो कुछ है सिनेमा के मालिक लोगो के हाथ में है। लेखक का कोई महत्त्व नहीं।" और जैनेन्द्रकुमार का लिखा— "जी चाहता हूँ मैं अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है जीवन नष्ट कर रहा हूँ।" उन्होंने 'सेवासदन' की फिल्म बनाने की अनुमति महालक्ष्मी सिनेटोन को दे दी थी किन्तु उस फिल्म से भी उनको बड़ी निराशा हुई। अतएव लगभग एक साल बम्बई रहकर वह अपने बनारसी अड्डे पर लौट आए।

किन्तु वे 'हंस' को कठिनाइयों में न रखना चाहते थे, अतएव उसका प्रकाशन भारतीय साहित्य परिषद को सौंप दिया। जब उगकी अन्तिम बीमारी में 'हंस' से जमानत माँगी गई तो परिषदवाले कुछ बनियापन दिखाने लगे। प्रेमचंद ने अपनी पत्नी से कहा— " 'हंस' की जमानत तुम जमा करा दो। मैं अच्छा होने पर उसे सम्हाल लूँगा। "

शिवरानीदेवी बोली— "आप अच्छे हो जाइए। तब सब कुछ हो जाएगा। "

प्रेमचंद बोले— "दाखिल कर दो। मैं रहूँ-न-रहूँ 'हंस' चलेगा ही, यह मेरा स्मारक होगा। "

शिवरानीदेवी ने अपने लड़के को भेजकर जमानत के रुपये जमा करा दिए। किन्तु लड़के से कही गलती न हो जाए इसलिए उन्होंने तार देकर मुशी दयानारायण निगम को बुलाया और उनसे कहा— "हंस की

जमानत करा दो।” जब उन्हें मालूम हुआ कि वह ठीक हो गई है तब चैन की साँस ली।

प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति पद से साहित्य का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने कहा था—“हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की प्रेरणा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो। जो इसमें गति और सघर्ष, बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।” उन्होंने जो आदर्श दूसरों को बताया था उसको स्वयं प्राप्त करने का आजीवन प्रयत्न करते रहे।

मार्च 1936 में लेखक उनके दर्शनार्थ बनारस पहुँचा। कमरे में चटाई बिछाए बैठे थे। पीछे तकिया रखा था और बाईं ओर हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। सामने एक छोटी तिपाई पर रखे कागज पर उनकी लेखनी चल रही थी। मुझे देखते ही उन्होंने कहा—“आइए।” मैं तुरन्त पहिचान गया कि इस नवाबी ठाट में नवाबराय बैठे हैं। मैंने वर्षों पहले जब उन्हें देखा था तब बड़े हृष्ट-पुष्ट थे। किन्तु अब कृशगत और बदन पर पीलापन आ गया था। मूँछों में पहले की सघनता नहीं किन्तु हँसी अब भी वैसी थी। परिचय होने के पश्चात् उन्होंने पूछा—“कैसे कृपा की।” मैंने कहा—“दर्शनार्थ।” कुछ समय उनके स्वास्थ्य पर बातचीत हुई। तदनन्तर मुँह से धुआँ निकालकर वे बड़ी देर तक उसकी ओर देखते रहे। जब वह चक्कर काटकर श्वेत छत में विलीन हो गया तो उन्होंने लिखना आरम्भ किया।

पन्ना खत्म करके उसे अलग रखते हुए उन्होंने कहा—“भाफ कीजिएगा, सिलसिले को खत्म करना जरूरी था।” फिर साहित्य-सम्बन्धी चर्चा हुई। हमारा वार्तालाप यथार्थवाद और आदर्शवाद पर आरुका। प्रेमचंदजी ने हँसते हुए कहा—“आप तो बड़ी तह में घुसते हैं, यह गोते तो कालेज के प्रोफेसर ही लगा सकते हैं।” मैंने उन्हें कहानी लिखने में व्यस्त देख उनका और समय न लेना चाहा और

उनका हस्तलेख माँगते हुए बिदा चाही। वह कहकहा मारकर बोले—
 “अजी मेरे आटोग्राफ की क्या वैल्यू ! अच्छा, आपके हुक्म की तामील
 कर देता हूँ।” नौकर से ‘हस’ की एक प्रति मँगवाई। उस पर
 निम्नांकित लिखकर मुझे दिया और फिर मिलने का आग्रह किया—

“जीवन का आनन्द कहाँ है ? दूसरों के आनन्द में। अगर हम
 उनके आनन्द में भाग ले सकते हैं तो हमें अपने दुःखों से डरने की कोई
 जरूरत नहीं। मजा तो तब है कि हम अपने रास्ते पर सड़क के
 स्वागत करें क्योंकि वही पूर्णता का मार्ग है।—प्रेमचंद।”

प्रेमचंद को महोबे में हाजमे की शिकायत हो गई थी जिसने बस्ती
 में पेचिश का रूप धारण कर लिया था जो धीरे-धीरे पेट की अन्य
 बीमारियों में परिणत हो गई। वे खाने-पीने में अधिक सयम रखने के
 आदी न थे और कार्याधिक्य के कारण स्वास्थ्य की चिन्ता भी न कर
 पाते थे। बम्बई की जलवायु अनुकूल न पड़ी। सन् 1936 में रोग
 बढ़कर जलन्धर हो गया। कमजोर होते हुए भी वे लिखने-पढ़ने का
 कार्य करते रहे। उनका अन्तिम उपन्यास ‘गोदान’ था। जिस प्रकार
 अग्नेज कवि टेनीसन “क्रासिग द् वार” लिखकर मौन हो गया था वैसे ही
 उपन्यास-सम्राट प्रेमचंद ने अन्तिम गोदान करके लेखनी को सदा के
 लिए विश्राम दे दिया। समस्त प्रलोभनों से दूर रहकर साहित्य-सृजन
 द्वारा जिसने समाज-सेवार्थ गरीबी सहर्ष स्वीकार की हो उसका एक
 वाक्य बरबस याद हो आता है—

“रानी, यह हिन्दोस्तान है, इसमें कलम के सहारे जीना मुश्किल है।”

बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का बाल्यकाल नितान्त अहिन्दी वातावरण में बीता। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू-फारसी में हुई। उनके पिता सुपरवाइजर कानूनगो थे, जिनकी चाल-ढाल तथा वेश-भूषा तत्कालीन फारसी शिक्षा-सम्पन्न किसी मौलवी से कम न थी। उनकी काली घनी दाढ़ी, गोल मोहरी का पायजामा, पट्टेदार बाल, अल्पका की शेरवानी और सरसैयद की जवान उस समय के फारसी पढ़े शिष्ट कहलानेवाले मुसलमानों से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। उन दिनों संस्कृत अथवा हिन्दी बेहूदा जवान समझी जाती थी। धोती पहिनना तथा नंगे सिर रहना अशिष्टता का द्योतक था। एक बार बालक रामचन्द्र ने अपने मित्रों के साथ धोती पहिनना प्रारम्भ किया तो बड़ी डाँट पड़ी—“हरामजादा, उन बेहूदों के साथ वशिष्ठ बना घूमता है।” जब वह मिर्जापुर स्कूल में भरती हुए तो वहाँ अंग्रेजी पढ़ने की धूम रही। उसी भाषा की पुस्तकों का प्रायः घर पर भी अध्ययन हुआ करता था। ऐसे वातावरण में यदि उन्हें कभी हिन्दी शब्द सुनने को मिला तो वह था अपनी वृद्धा दादी के मुख से जो रामभक्त थी और नित्य तुलसी तथा केशव के भजन गाया करती थी।

मिर्जापुर में उनके एक पड़ोसी संस्कृत-साहित्य के भावुक एव तेजस्वी विद्वान् पण्डित विन्ध्येश्वरी प्रसाद थे जो बहुधा अपने शिष्य वर्ग को लेकर जंगल-पहाड़ों की ओर निकल जाते थे और चलते हुए उत्तर रामचरित के श्लोकों को सस्वर पढ़ते थे। बालक रामचन्द्र को प्राकृतिक

दृश्यों से बड़ा प्रेम था, अतएव वह भी प्रायः उस मण्डली के साथ हो लिया करता था। इस सत्संग से ही उन्हें संस्कृत सीखने की प्रवृत्ति हुई और हिन्दी की ओर रुचि बढ़ी। इन्हीं दिनों उनका परिचय बाबू काशीप्रसाद जायसवाल से हुआ जिससे हिन्दी की ओर यह और भी आकर्षित हुए। एक बार जब यह काशी गए तब भारतेन्दुजी के मकान पर पण्डित केदारनाथ से इनका परिचय हुआ; जिनसे हिन्दी तथा बँगला में सुन्दर पस्तके पढ़ने और हिन्दी लेखकों के विषय में चर्चा सुनने का अधिक अवसर मिलने लगा। इस प्रकार नितान्त अहिन्दी वातावरण में पालन-पोषण होने पर भी हिन्दी ने उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लिया और वे हिन्दी में लेख तथा कविता लिखने लगे।

अपने जीवन की एक घटना के विषय में लिखते हुए शुक्लजी कहते हैं—“मेरे मुहल्ले में एक मुसलमान सब-जज आ गए थे। एक दिन मेरे पिता खड़े उनके साथ कुछ बातचीत कर रहे थे। बीच में मैं उधर जा निकला। पिताजी ने मेरा परिचय देते हुए कहा—‘इन्हें हिन्दी का बड़ा शौक है।’ चट जवाब मिला—‘आपको बताने की जरूरत नहीं, मैं तो इनकी सूरत देखते ही इस बात से वाकिफ हो गया।’ मेरी सूरत में ऐसी क्या बात थी यह इस समय नहीं कहा जा सकता। आज से चालीस वर्ष पहले की बात है।”

शुक्लजी प्राकृतिक दृश्यों के बड़े प्रेमी थे। मिर्जापुर प्रकृति की अनुपम क्रीडास्थली होने के कारण ही उन्हें अति प्रिय था। वहाँ की सघन वन्य वृक्षों से लदी पर्वतमालाएँ, ऊँची-नीची पर्वतस्थलियों के बीच क्रीड़ा करते हुए टेढ़े-मेढ़े नालो, दृगत-पर्यन्त फैले हरे-भरे लहलहाते खेतों, बड़ी-बड़ी चट्टानों के मध्य दूर-दूर तक फैले हुए निर्झरों, फूली-फली अमराइयों, छोटे-बड़े उद्यानों तथा रंग-बिरंगे फूलों से आच्छादित शिलाखण्डों में जैसी सुखानुभूति उनकी उत्कृष्ट कल्पना को मिली उसकी गहरी छाप उनके मानसपटल पर सदा बनी रही। मृत्यु के डेढ़ महीने पूर्व जब यह मिर्जापुर गए थे उस समय साहित्यिकों के अपूर्व स्वागत समारोह में

व्यक्त किए गए आपके हृदयोद्गार चिरस्मरणीय रहेंगे—“लोगों ने मुझे बनारसी समझ लिया है, यह मेरे साथ अन्याय है। मैं मिर्जापुर का हूँ और मिर्जापुर मुझे अत्यन्त प्रिय है। मैं मिर्जापुर की एक-एक भाड़ी, एक-एक टीले से परिचित हूँ। बचपन मेरा इन्हीं भाड़ियों की छाया में पला है। मैं इसे कैसे भूल सकता हूँ। लोगो की अन्तिम कामना रहती है कि वे काशी में मोक्षलाभ करें किन्तु मेरी अन्तिम कामना यही है कि अन्तिम समय मेरे सामने मिर्जापुर का वही प्रकृति का दिव्य खण्ड हो जो मेरे मन में, भीतर-बाहर बसा हुआ है।”

बहुधा प्राकृतिक सौन्दर्य निरूपण करते समय वे अपने को सम्हाल न पाते थे और उनकी स्वाभाविक भावुकता ऐसे समय पर प्रत्यक्ष हो जाती थी। एक दिन विश्वविद्यालय से लौटते समय उनकी दृष्टि एक उद्यान में अति सुन्दर मुकुलित गुलाब पर पड़ी। ताँगे से उतरकर वे सीधे उसके पास पहुँचे और लगभग आध घण्टे तक वह उससे बात करते हुए हृदय से गद्गद होकर उसे निहारते रहे। उनका प्रकृति-निरीक्षण केवल एक साहित्यिक के रूप में न होता था वरन् वे उसके विषय में पूरा वैज्ञानिक परिचय भी रखते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार के गुलाब तथा अन्य पुष्पो की समता तथा विषमता वे बड़े सूक्ष्म रूप से बताते थे। शुक्लजी ने कालिदास का मेघदूत पढ़ा। उसे लेकर वे उन देशों के प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण करते फिरे जहाँ से मेघदूत होकर निकला था। उन्हें विभिन्न प्रदेशों के प्राकृतिक सौन्दर्य का अच्छा ज्ञान था और वे उनका बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन करते थे।

शुक्लजी के पिता चाहते थे कि उनके पुत्र को कोई सरकारी नौकरी मिल जाए। अतएव वे इन्हे कलकत्ता साहब के बंगले पर कई बार लिखा गए। उनको हुजूर कहकर सम्बोधित करना बड़ा आवश्यक था। “हुजूर-हुजूर” कहकर किसी प्रकार उनका नाम नायब तहसीलदारी में भेजा गया। किन्तु इस चाटुकारिता से शुक्लजी के आत्म-अभिमान को ठेस लगी। उन्होंने चुपके से एक लेख अंग्रेजी में अंग्रेज कर्मचारियों

की नवाबी और हिन्दुस्तानियों की चाटुकारिता पर लिख मारा । किसी ने वह लेख कलक्टर साहब के सामने रख दिया । उनका नाम खारिज कर दिया गया और सरकारी नौकरी का द्वार सदा के लिए बन्द हो गया । किन्तु शुक्लजी अपने लिए जो मार्ग स्वयं निर्दिष्ट कर रहे थे वही उन्हें कल्याणकारक जान पड़ा । हिन्दी का उन्होंने सुहृच्चिपूर्वक अध्ययन किया और उसी के वे एक सफल आचार्य एवं प्रकाण्ड पण्डित प्रसिद्ध हुए ।

ऐसे देखने में शुक्लजी बड़े नीरस और कठोर-से जान पड़ते थे किन्तु इस बाह्य शुष्कता के भीतर उनका भावुक कोमल हृदय सबके लिए स्नेह से ओत-प्रोत था । एक सन्ध्या समय विश्वविद्यालय के एम० ए० कक्षा के विद्यार्थी विदाई के लिए हिन्दी विभाग में एकत्र हुए । शुक्लजी की प्रतीक्षा हो रही थी । जब उनके आने में निराशा होने लगी तो एक विद्यार्थी उनके घर पहुँचा । आचार्य जी को स्वास का दौरा आ गया था । बाहर से ही किसी ने उसे लौटा दिया । किन्तु शुक्लजी ने उसका आना जान लिया था । अतएव बड़े प्रयत्न से उठकर उसके पास आए और रुक-रुककर बोले—“मैं अभी आता हूँ ।” विद्यार्थी ने विनम्र होकर कहा—“पण्डितजी, आप स्वस्थ हो जाएँ तो समारोह कल सही ।” शुक्लजी ने प्रयत्नपूर्वक कहा—“भाई कल का क्या भरोसा, मैं अभी आता हूँ ।” ताँगे पर बैठकर आचार्यजी पहुँच ही तो गए । प्रतीक्षा करनेवाले विद्यार्थियों में अपूर्व उत्साह जाग्रत हो उठा । एक-एक विद्यार्थी ने कुर्सी पर बैठे गुरुदेव से विदाई ली । प्रायः सभी विद्यार्थियों ने नमन करके अनुरोध किया—“पण्डितजी, भूल न जाइएगा । स्मरण रखिएगा ।” अन्त में सहृदय शुक्लजी से न रहा गया और वह फूट ही पड़े—“आप समझते हैं मैं पत्थर हूँ जो आपकी बातों का मुझ पर प्रभाव न पड़ा हो ।” यह सुनते ही सब विद्यार्थी अश्रुमय हो गए और गद्गद हो गुरुदेव के चरणों में गिर पड़े ।

शुक्लजी भीड़-भक्कड़ से बड़े घबड़ाते थे और बहुधा कहा करते थे कि यदि सभा-सोसाइटियों में नाच न नाचना पड़े तो मैं प्रायः अपने

मित्रों का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया कहूँ । एक बार वे कई स्थानों में भ्रमण करके लौटे । उनकी छोटी पुत्री जिसे वह बड़ा प्यार करते थे उनके पैरों से लिपट गई । उससे विनोद करने के लिए वे अपनी घरेलू भाषा में बोले—“अरे खियायगा ।”

“कौन चीज बाबूजी ?” भोली-भाली बालिका ने कुतूहलवश प्रश्न किया ।

“गोड़ ।”

“चलत, चलत ?”

“नाही रे ।”

“तब का बाबूजी ?”

“छुअत, छुअत ।”

समस्त गृह मधुर हास से गुजित हो उठा और बालिका खिल-खिलाकर और चिपट गई ।

किन्तु आचार्यजी की विनोदप्रियता देखने के लिए हमें उनकी कक्षा में जाना पड़ेगा । जहाँ वे वाक्यों के घुमाव तथा शब्दों के तनाव के द्वारा बड़ा विनोद उत्पन्न कर दिया करते थे । ऐसे अवसरों पर वे स्वयं कभी नहीं हँसते देखे गए । गम्भीर मुद्रा, चश्मे के भीतर से नेत्रों का चमकना तथा यदा-कदा उनकी मूँछों के दो-एक बालों का फड़कना ही उनके हँसने का संकेत करता था ।

रत्नाकर का “उद्धव शतक” पढ़ाते-पढ़ाते आचार्यजी बोले—“पुस्तक तो अच्छी है ।” विद्यार्थियों ने कागज-कलम सम्हाली—सोचा समालोचना बता रहे हैं । किन्तु आचार्यजी बोलते ही रहे—“कागज भी चिकना है, छपाई नीली बेल-बूटेदार, पत्र है ऐसी मानो पाठ करने की दुर्गा-सप्तशती ।” कक्षा कहकहा मारकर हँस पड़ी किन्तु आचार्यजी पूर्ववत् चिर गम्भीर मुद्रा में बैठे रहे । हमें सम्भवतः विकट अर्द्धमूँछों में ही दबी रह गई ।

बी० ए० की कक्षा में प्रविष्ट हो धीरे से कुर्सी पर बैठकर आचार्य

जी ने अपना चश्मा उतारा और कहा लिखिए—“रहीम खानखाना ऐसे ऊँचे सरदार भाषा के प्रसिद्ध कवियों में थे। टोडरमल और बीरबल भी अच्छी कविता कर लेते थे। नरसिंह, बन्दीजन, और गग कवि का अकबर के दरबार में बड़ा मान था। राजाओं के दरबार में भी कवियों की बड़ी पूछ थी।” एक विद्यार्थी ने कहा—“फिर से कहिए, पण्डितजी, सुनाई नहीं पड़ा।” शुक्लजी ने दुहराया राजाओं के दरबार में भी कवियों की बड़ी पूछ थी फिर बोले—“इसका अर्थ आप यह न समझे कि कवियों की बड़ी पूछ थी।” कक्षा मुक्त हास से गूँज उठी किन्तु गुरुदेव की मूँछों के दो-चार बाल ही फड़ककर रह गए।

कविवर केशवदास की चर्चा करते समय शुक्लजी ने कहा—“देखिए केशव ऐसे कवियों में थे जिन्हें पग-पग पर कविता बनाने का मर्ज था। किसी ने कह दिया कि कविजी जरा गमले का तो वर्णन कीजिए, बस कविजी ने गमले का वर्णन कर दिया। यदि किसी ने कहा जरा सरोवर का वर्णन कीजिए, कविजी ने तुरन्त सरोवर पर कविता बना दी।” अन्तिम शब्द कविता बना दी सुनकर कक्षा में मन्द हँसी दौड़ गई किन्तु दूसरे वाक्य ने दिल खोलकर हँसने का अवसर दिया—“यह केशवदासजी महाराज जो है सो.....”

फिर दूसरी बार शुक्लजी ने कहना आरम्भ किया—“मतिराम सम्बत् 1674 में उत्पन्न हुए और बहुत दिनों तक जीवित रहे.....” बहुत दिनों तक का सकेत करने के लिए वह रुक गए कि कक्षा हँस पड़ी, उनकी मुद्रा और चमकते नेत्र देखकर। लक्षणा शक्ति का उदाहरण देते हुए बोले—“जैसे तुम बैल हो का यह अर्थ नहीं कि आप चार पैर और दो सींगवाले जानवर हैं।”

एक बार एक सज्जन बाहर से काशी देखने गए और वहाँ की सभी देखने योग्य वस्तुओं के दर्शन करते हुए शुक्लजी के पास पहुँचे। बड़े आदरपूर्वक नमस्कार करके बोले—“मैं अमुक स्थान का रहनेवाला हूँ। काशी आया था तो सोचा कि यहाँ की प्रसिद्ध वस्तुओं को देखता चलूँ

इसीलिए आपके भी दर्शन करने आया ।” शुक्लजी बोले—“तो आपने माधोराव सिन्धिया का धुँआरा देखा कि नहीं । उसे अवश्य देखिए ।” आगन्तुक अपनी मूर्खता पर निःशब्द हो गया ।

शुक्लजी के एक मित्र ने एक बार कहा—“पण्डितजी, आज मैंने एक विचित्र व्यक्ति देखा । उसके शरीर पर सर्वत्र राम-राम ही लिखा था ।” शुक्लजी बोल उठे—“शाहजी, आपको भ्रम हो गया वह विभीषण का घर होगा ।”

शुक्लजी का हास्य और विनोद उनकी कृतियों में देखते ही बनता है । किन्तु वहाँ भी उनके स्वाभाविक गाम्भीर्य का प्रचुर परिमाण रहता है । लेखों की गम्भीरता से कही पाठक ऊब न उठे वे यदा-कदा कोई चुटकुला छोड़ देते हैं जिससे पाठक का पर्याप्त मनोरंजन होता है, यथा “दरबार है कोई हँसी-ठट्ठा नहीं” अथवा “यदि एक गाल में चपत लगानेवाला ही न रहेगा तो दूसरा गाल फेरनेवाले का महत्त्व कैसे दिखाई देगा . . . पर किसी ईसाई साम्राज्य ने अन्यायपूर्वक अग्रसर होनेवाले साम्राज्य से मार खाकर अपना दूसरा गाल नहीं फेंगा । एक अन्य स्थल पर, “मूर्ख हास्यरस के बड़े पुराने अवलम्बन हैं । न जाने कब से वे इस ससार के बीच लोगों को खुलकर हँसने का अवसर देते आ रहे हैं । यदि मुझसे इतना भी हो सके तो मैं अपना परम सौभाग्य समझूँगा ।”

हास्य-विनोद की सृष्टि के लिए वे कभी-कभी अंग्रेजी तथा उर्दू फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी करते थे । ‘भ्रमरगीत-सार’ में एक स्थान पर आप लिखते हैं कि—“उद्धव के ज्ञान-योग का पूरा लेक्चर सुनकर और उसे अपने सीधे-सादे प्रेम की अपेक्षा कहीं दुर्गम और दुर्बोध देखकर गोपियाँ कहती हैं ।” अथवा गोस्वामी तुलसीदास में—“इस सफाई के सामने हजारों बकीलों की सफाई कुछ नहीं, इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं” । इसी में भोज्य सामग्रियों के नामों की चर्चा करते हुए आप लिखते हैं—“इन नामों को सुनकर अधिक-

से-अधिक यही हो सकता है कि श्रोताओं के मुँह में पानी आ जाय”।

भ्रमरगीत-सार में विनोद की मधुर व्यंजना देखिये। “इस खेल-ही-खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गई जिसे प्रेम कहते हैं।” इशाअल्ला खा की रानी केतकी की कहानी के विषय में इतिहास में शुक्लजी लिखते हैं, “अपनी कहानी का आरम्भ ही उन्होंने इस ढंग से किया है जैसे लखनऊ के भोंड घोड़ा कुदाते हुए महफिल में आते हैं।” इसी प्रसंग में उनके एक लखनवी मित्र का वर्णन ‘चिन्तामणि’ में पढ़िये—“मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी-सी पहाड़ी पर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत-से हैं। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सबेरे देखने का विचार कर नीचे उतर रहे थे। वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—‘महुए की कैसी मीठी महक आ रही है।’ इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा, ‘यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे’। मैं चुप हो गया समझ गया, कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बढ़ा लगता है।”

शुक्लजी का व्यंग्य सयत होता था किन्तु अपने लक्ष्य तक पूरी चोट करता था। उदाहरण के लिए उनके इन्दौरवाले भाषण के दो-तीन उदाहरण दिये जाते हैं।—“ऐसी जगमगाती विद्वन्मंडली के बीच मेरा कर्तव्य केवल दोनों कान खुले रखने का था न कि मुँह खोलने का।” “अपने भाषण के आरम्भ में ही मैंने अपनी अयोग्यता प्रमाणित करने का वचन दिया था; कम-से-कम मैंने इतना तो अवश्य सिद्ध कर दिया कि मेरा इस परिषद का सभापति चुना जाना ‘कला की दृष्टि’ से अनुपयुक्त हुआ।” कला की दृष्टि से सभी वस्तुओं को देखनेवाले कलावादियों पर यह व्यंग्य कसा गया था। हिन्दी भाषा में अंग्रेजी प्रयोगों का व्यवहार करनेवालों पर इस वाक्य में कितना शिष्ट व्यंग्य है—“पहले मैं प्रत्येक का स्वरूप समझने का प्रयत्न करूँगा फिर अपने साहित्य में उसके विकास

पर कुछ निवेदन करूंगा—प्रकाश डालना तो मुझे आता नहीं” । प्रकाश डालना अंग्रेजी प्रयोग ‘टू थ्रो लाइट’ का अनुवाद है जो हिन्दी में खूब चलने लगा है । इसी पर शुक्लजी ने व्यंग्य किया है ।

इस भाषण में रहस्यवादियों की भी खबर ली गई थी—“पर रहस्यवादी की ईश्वर-समागम वाली दशा का—जो योगियों की तुरीया-वस्था अथवा चित्त-विक्षेप के रूप में मानी जाती है—जैसी किसी भूत या देवता के सिर आने पर होती है । इस दशा पर आस्था सभ्यता की आदिम अवस्था का संस्कार है जो किसी-न-किसी रूप में अब तक चला आता है । उसी के कारण जैसा भूत-प्रेत कुलदेवता, आदि का सिर पर आना है वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना समझा जाता है । हमारे यहाँ के भक्ति मार्ग में यह बिल्कुल नहीं है । आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर न कभी राम-कृष्ण आये न ब्रह्म—हाँ ब्रह्म राक्षस अलबत्ता आते हैं । हनुमान कभी-कभी भक्तमण्डली से उछलकर किसी सेवक के सिर आ जाया करते हैं ।” सिर पर किसी देवता, भूत-प्रेत आदि के आने की बुरी धारणा वा बात का सम्बन्ध रहस्यवादियों से जोड़कर शुक्लजी ने उनका मजाक उड़ाया था ।

हिन्दी साहित्य में ऊलजलूल कहनेवालों की शुक्लजी ने सख्त हजामत की है । ऐसे अवसरों पर उनकी खीज इतनी बढ़ गई है कि उनके व्यंग्य ने कटूक्ति का रूप धारण कर लिया है । जैसे जायसी ग्रन्थावली में सन्त कवियों के सम्बन्ध में आचार्यजी लिखते हैं—“कई स्थलों पर गूढ़वानी का दम भरनेवाले मूर्ख पन्थियों के अनुकरण पर कुछ पारिभाषिक शब्दों से टँकी हुई थिंगलियाँ व्यर्थ जोड़ी जान पड़ती हैं ।” मिश्र बन्धुओं की आलोचना करते हुए इतिहास में लिखते हैं—“जो वीररस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वरुण का द्वित्व देखकर ही प्राकृत भाषा और कही चौपाई देखकर ही अवधी वाँ बैसवाड़ी समझते हैं, जो भाव को ‘थाट’ और विचार को ‘फीलिंग’ कहते हैं वे यदि उद्धृत पद्यों

को सवत् 1000 के क्या सवत् 500 के भी बताएं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं ।”

श्री पद्मसिंह शर्मा को भी जायसी ग्रन्थावली में डाँट पड़ी है—“ ‘कहत सबै बेंदी दिए आक दस गुनौ होत’ और ‘जग काचो कांच सो मैं समुझ्यो निरधार’ को आगे करके जो लोग यह कह बैठते हैं कि ‘वाह ! वाह ! कवि गणित और वेदान्तशास्त्र का कैसा भारी पंडित था’ उन्हें विचार से काम लेने और वाणी का समय रखने का अभ्यास करना चाहिए ।” ‘बुद्धचरित’ का एक व्यंग्य बड़ा चुटीला है—“सुनते हैं आजकल बिहारवाले भी भाषा निर्णय के उद्योग में हैं और क्रियापदों से लिंग भेद का भ्रष्ट उठवाना चाहते हैं । हिन्दी रचना-प्रणाली पर पुस्तकें भी बिहार ही में अधिक छपती हैं । एक दिन एक पुस्तक मैंने उठाई । आरम्भ में ही लक्षणा के उदाहरण में मिला ‘तुम गधा हो’ मैंने आकाशे लक्ष्य बध्वा’ वाक्य को ठीक तौर से दुहराकर पुस्तक रख दी ।” शुक्लजी ने प्रकारांतर से उक्त पुस्तक के लेखक को वही जीव बनाया जिसका उदाहरण उसने दिया था ।

ऐसा था आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का व्यंग्य एव विनोद । वे प्रायः उनके साहित्यिक कार्य में परिलक्षित होते थे । बाबू श्याम-सुन्दरदास ने एक बार उनसे कहा था कि लोगो की ऐसी धारणा है कि शुक्लजी कभी हँसते नहीं । उसके उत्तर में वे मुस्करा दिए थे । वे विनोदप्रिय थे; किन्तु उनके हास्य में सजीदगी थी तथा उनके व्यंग्य में सूक्ष्मता एव तीक्ष्णता ।

‘जय जय शकर’, ‘हर हर महादेव’ कहकर काशी में अभिवादन केवल दो ही लोगो को किया जाता था। एक काशीराज के दरबार में और दूसरा नगर के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यापारी परिवार को। प्रतिष्ठा इस परिवार की थी दानवीरता और गुणग्राहकता के कारण और व्यापार उसका था तम्बाकू का जिसकी एक प्रकार की सुँघनी सुर्ती बहुत प्रसिद्ध थी। यह सुर्ती पण्डितो और विद्यार्थियो को मुफ्त में दी जाती थी, जिन्होंने इस परिवार को ‘सुँघनी साहु’ के नाम से विख्यात कर दिया था। इसके पूर्वज गंगास्नान से लौटते समय लोटा-वस्त्रादि दान करते चले आते थे। वैभव-सम्पन्न यह इतना था कि किसी बड़े काम-काज को करने के लिये केवल दुकान का टाट उलट दिया जाता था और उसके नीचे भूली-विखरी सम्पदा से वह काम भली-भाँति हो जाता था।

सम्पन्न होते हुए भी इस परिवार में एक अभाव था। उसके बालक जन्म लेकर शैशव में ही नष्ट हो जाते थे। अतएव इस शैव परिवार ने वैद्यनाथ धाम के भारखण्ड से लेकर उज्जयिनी के महाकाल तक के ज्योतिर्लिंगों की आराधना की। तब कहीं शकर के प्रसाद-स्वरूप एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ जिसे ‘भारखंडी’ कहकर पुकारा गया। वैद्यनाथधाम में उसका अन्नप्राशन सस्कार हुआ। पूजा-विधि में पुस्तक, बही, मसिपात्र, लेखनी, तथा बालप्रिय अन्य कई सप्तरंगी वस्तुओं तथा खेलने की लाल-पीली पदार्थविलियो के बीच शिशु को अपनी रुचि की चीज चुन लेने के लिए छोड़ दिया गया। लोगो के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब सब

कुछ छोड़कर शिशु ने केवल लेखनी उठा ली और उसी से खेलना बरण किया। कुछ और बड़ा होने पर आयु-कामनार्थ उसकी बीच की नाक छिदाकर बुलाक पहना दी गई। माता यदा-कदा उसे घाँघरी पहिनाकर बालिका का रूप देती थी। इस वेश में एक दिन उसके चाचा ने एक सामुद्रिकवेत्ता से उस बालिका का हाथ देखने को कहा। दैवज्ञ महाशय की विद्या यह लक्ष्य न कर सकी कि वह बालक है और उसे बालिका मानकर ही वह भविष्य-कथन कर चली। जब घाँघरी उतारकर फेंक दी गई तो ज्योतिषी महाशय बहुत खिसियाए। बड़े होने पर जब यह कथा बालक को सुनाई गई तो वह ज्योतिषियों के खोखलेपन से इतना प्रभावित हुआ कि कहा करता था, “यदि ज्योतिष सत्य हो तो भी मैं के लिए बड़ा घातक है, हमारी वर्तमान चिन्ताएं ही कौन कम है जो हम भविष्य को जानकर उसके लिए मरे-पचे।”

संस्कारों के सम्पन्न कराने के लिए बालक को विन्ध्याचल आदि स्थानों में घुमाया गया जिनके प्रकृति-सौन्दर्य ने उसके कोमल मस्तिष्क पर अमिट छाप डाल दी। अहरौरा के आस-पास की पहाड़ियों में, उनकी सधि से सवेग भागती हुई जल की छोटी-छोटी धाराओं ने, उनके कलकल, छल-छल संगीत ने हृदय में शीतल अनुभूति की उन्मेष क्रीड़ा को जन्म दिया। नौ वर्ष की आयु में मपरिवार की गई लम्बी यात्रा में चित्रकूट की पार्वतीय शोभा, नैमिषाण्य के निर्जन वन, मथुरा की वनस्थली तथा अन्य क्षेत्रों के मनोरम दृश्यों ने इसके हृदय को इतना प्रभावित किया कि उसका कवित्व उन्मुख हो उठा और ‘कलाधर’ के उपनाम से उसकी पहली कविता का जन्म हुआ। यद्यपि पर्यटन का उसके कविहृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ता था, किन्तु फिर कभी उसने काशी नहीं छोड़ी। बड़े होने पर लोगों के आग्रह से वे एक-दो बार ही बाहर गए जिसमें पुरी की यात्रा उल्लेखनीय है। विस्तृत समुद्र को पहली बार देखकर उसका कविहृदय अस्वस्थ होकर अधिक गाभीर्य एवं चिन्तन की ओर अग्रसर हुआ।

शिव के प्रसाद-स्वरूप प्राप्त 'जय-जय शकर' के अभिवादन द्वारा सम्मानित इस बालक का नाम जयशंकर प्रसाद रखा गया। उसकी शिक्षा का प्रबन्ध सुविज्ञ शिक्षको से घर पर ही किया गया। पुरानी परिपाटी के अनुसार सस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और फारसी आदि का अध्ययन पूर्ण मनोयोग से आरम्भ हुआ। छोटी अवस्था में ही अपनी असाधारण बुद्धि और परिश्रम से जयशंकर ने शीघ्र बहुत-सी रचनाएँ और ग्रन्थ कण्ठस्थ कर लिये। कुछ बड़े होने पर वे क्वीन्स कालेज में भरती हुए। इसके साथ कसरत-कुश्ती भी नियमित रूप से चलती रही जिससे उनका शरीर स्वस्थ, सुडौल तथा रूपवान बनता गया। उनकी गोराई के बारे में उस्ताद रामप्रसाद कहा करते थे, "क्या यह चन्द्रमा के निचोड़ का लेप तो नहीं किया करते।" उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। गौरवर्ण, गोल मुँह, क्रमबद्ध दातावलि, उन्नत ललाट, ढाका की मलमल का कुर्ता और शान्तिपुरी धोती-युक्त उनकी शान्त भव्य मुखाकृति बिना प्रभावित किए नहीं रहती थी।

जब प्रसाद बारह वर्ष के ही थे उनके पिता की मृत्यु हो गई जिससे घर का सब भार उनके बड़े भाई शम्भूरत्न पर पड़ा। गृहकलह और मुकदमेबाजी के बाद जब भाई ने व्यवसाय सम्हाला तो प्रसाद की पढाई-लिखाई छूट गई और उन्हें दूकान पर बैठना पड़ा। किन्तु इन भ्रष्टावातों के बीच भी उन्होंने अपना स्वतः अध्ययन जारी रखा और ब्रजभाषा में कविता लिखने लगे। वे दूकान पर बैठे-बैठे बहियों पर ही कविता लिख डालते। भाई को जब पता लगा तो उन्होंने डाँट लगाई— "हमें अपना व्यापार सम्हालना है, शकर। बाप-दादो के डीह को बचाना है। देखो तुम्हारा इस अवसर पर कविता आदि करना अच्छा नहीं जँचता।"

उन दिनों कविता के चक्कर में पड़ना बरबादी की ओर उन्मुख होना समझा जाता था। किन्तु भावी कलाकार की प्रेरणा रोके कैसे रुकती! उसमें केवल यौवन की उमंग ही नहीं वरन् स्वाध्याय से

प्राप्त ज्ञान से उमंगी भावुकता का पर्याप्त समावेश था। अतएव प्रसाद चोरी-छिपे कविता लिखते रहे और बहियों के पन्ने कम हो जाने पर बहाना बना देते थे कि रही न होने के कारण उसी में पुडिया बाँध दी गई। शम्भूरत्नजी को जब कभी मालूम हो जाता तो वे झिड़की देते किन्तु प्रसाद की भाभी सदा उनकी रक्षा करती। मांता की मृत्यु के पश्चात् प्रसाद ने अपनी भाभी से वात्सल्य पाया था। जब कई साहित्य-प्रेमियों ने प्रसाद की समस्या-पूर्ति की प्रशंसा शम्भूरत्नजी से की तो उन्होंने कविता लिखने पर से प्रतिबन्ध हटा दिया। किन्तु अग्रज का वरद हस्त भी उन पर बहुत दिनों तक न रह सका। पाँच-छ. वर्षों के भीतर तीन वज्रपात सहने पड़े—माता, पिता और भाई का एक के बाद एक अवसान हुआ। सत्रह वर्ष की छोटी आयु में वे निपट अकेले रह गये।

अनुभवहीन, अविवाहित, कर्ज से लदे, मुकदमे में फँसे, अधबनी हवेली और अधसमझे व्यापार का भार लिये प्रसाद को जीवन-सग्राम में उतरना पड़ा। ऐसे सकटकाल में भारतीय दर्शन ने उन्हें नई प्रेरणा दी और अपनी बुद्धि और व्यवहारकुशलता के सहारे वे 'शक्तिशाली हो विजयी बने'। उन्होंने व्यवसाय सम्हाला, ऋण निपटाया, मुकदमे सुलझाये और अपना स्वयं विवाह किया, प्रणय खण्डित होने पर भाभी के आग्रह करने से एक नही तीन बार। जीवन की इन विषमताओं ने उन्हें नियति में विश्वास करने के लिये बाध्य कर दिया, शान्ति पाने के लिए घण्टों शिवालय के अशरण-शरण-चरण में लोटे रहने की उनमें आदत डाली।

प्रसादजी अपने व्यवसाय के कुशल ज्ञाता थे। सुंघनी साहु की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिये वे सुर्ती कारखाने में स्वयं जाकर निरीक्षण करते थे। भट्ठी पर सुर्ती गलाने से लेकर पुडिया बाँधने और बही-खाता लिखने तक का कार्य वे बड़ी दिपुणता से करते थे। खमीरा और किमाम इत्यादि में गंध-सम्मिश्रण के कार्य में बड़ी सूक्ष्म प्राविधिकता अपेक्षित होती है। यदि एक रत्ती या बूंद का भी अन्तर पड़ गया तो गंध का

अनुपात भिन्न होकर सारे मसाले को नष्ट कर सकता है। उनका हाथ इतना नपा-तुला और निर्माणात्मक कौशल इतना बढ़ा-चढ़ा था कि उनका अनुमान सदा काँटे से तोलने पर भी ठीक निकलता और वस्तुओं की मात्राओं का इतना सुरुचिपूर्ण सम्मिश्रण होता कि माल सर्वोत्तम बनता था। काशी विश्वविद्यालय के रसायनशास्त्र के प्रोफेसर गाडबोले ने एक बार एक गंध-सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हुए उनसे पूछा कि बताइए इसमें कौन-कौन-से द्रव्य पड़े हैं। प्रसादजी से सभी वस्तुओं का ठीक-ठीक नाम सुनकर प्रोफेसर साहब चकित रह गये। कस्तूरी की परख और इत्रों तथा गुलाब-जल को बनाने में वे निपुण थे। ऐसी थी प्रसाद की दक्षता और कारीगरी।

अपने कर्तव्यों के प्रति, व्यावसायिक हो अथवा साहित्यिक, वे समान रूप से सचेष्ट थे। उनके अवधान की एकाग्रता इतनी पैनी थी कि इत्रों और मसालों का मिश्रण तैयार करते-करते सहसा बगल में रखी कलम पकड़ लेते और कागज पर सहज प्रवाह से दस-बीस छन्द लेखबद्ध कर देते। और फिर लेखनी रख काँटा या मापक यत्र उठा लेते और जब गंध-परिपाक बनाते-बनाते भावनाओं से हृदय प्लावित हो जाता तो फिर लेखनी उठा लेते। 'कामायनी' का बहुत-सा अंश तथा अनेक स्फुट कविताएँ सुर्ती कारखाने में इस प्रकार कार्यव्यस्त रहते हुए ही लिखी गई हैं।

संध्या समय प्रसादजी अपनी नारियल बाजार की दुकान पर जाते और वहाँ भी व्यवसाय तथा साहित्यिक चर्चा साथ-साथ चला करती। वे सकरी गली में दुकान के सामनेवाले चौतरे पर बैठते जहाँ नियमित रूप से मित्रमंडली आ जाती और एक छोटी-मोटी गोष्ठी जमती। भिन्न-भिन्न चर्चाएँ होती, कभी-कभी वाद-विवाद भी छिड़ जाता किन्तु प्रायः अट्टहास ही गूँजा करता। यह कार्यक्रम रात्रि को देर तक चला करता था। भाँग-बूटी रोज ही छनती किन्तु प्रसादजी उसे न लेते। किसी के बहुत आग्रह करने पर हृदय की ओर सकेत करके कहते—“सारी मस्ती

इसमे भरी है, अधिक लेना व्यर्थ है।” इस अवसर पर वे एक-दो शब्द कहकर दूसरो को बोलने के लिये प्रोत्साहन दिया करते किन्तु स्वयं हास-परिहासो मे कभी खुलकर भाग न लेते, बैठे मुस्कराया करते। “क्या यह अच्छा नही कि औरो की सुनता मैं मौन रहूँ” को मानो चरितार्थ करते हो।

प्रसादजी हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे अनेक नवीन उपकरणों के साथ अवतीर्ण हुए थे अतएव आरम्भ मे लोगो ने उनका डटकर विरोध किया। लाला भगवानदीन ने लिखा कि “उनका काव्य बिलकुल नीरस और अनेक दोषो से पूर्ण है। एक भी छन्द यतिभंग-दोष से रहित नहीं है। हम साहुजी को सलाह देते है कि ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन में व्यर्थ व्यय न किया करे।” पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी नई दिशा को ‘अभि-व्यंजना की एक शैली-मात्र’ अथवा ‘एक बंधे हुए दायरे में चलनेवाला काव्य’ कहकर टाल दिया। मुशी प्रेमचन्द बोले कि “प्रसादजी तो बाबा आदम के जमाने के चरित्रो को अपने नाटको मे रखते है, गडे मुर्दों को उखाडते है।” किसी ने उन्हे जीवन से भागनेवाला तो किसी ने रूढिवादी की सजा दी। इस विरोध को देखकर उनके कई मित्रो ने आज्ञा चाही कि कुछ उत्तर दिया जाय किन्तु प्रसादजी ने सबको हँस-कर कहा—“समय स्वयं सब प्रकट कर देगा।” उनका आत्मविश्वास था कि उनकी रचनाओं का उचित मूल्यांकन होकर रहेगा। उनके लिये बैसाखियों की आवश्यकता नही।

पं० विनोदशंकर व्यास उनके नाटकों की आलोचना पर कटु प्रत्या-लोचना लिखकर प्रसादजी के पास ले गये और उसे प्रकाशित कराने का आग्रह किया तो लेख को फ़ाडते हुए प्रसादजी बोले, “लिखने दो; न मैं इन लोगो का उत्तर देना चाहता हूँ और न तुम्हे ही सलाह दूँगा। ऐसे लोग सभी युग और सभी साहित्य मे रहे है और रहेंगे। उन पर ध्यान न देना चाहिए। मेरे नाटको को किसी की टेक लगाने की जरूरत नहीं। वे अपने बल पर ही खडे रहेंगे।” बिना उनसे पूछे जब इंदु के सम्पादक

ने 'समालोचना की समालोचना' शीर्षक लेख में विरोधियों को खरी-खोटी सुनाई तो प्रसादजी ने उन्हें ऐसा फिर करने से मना कर दिया। बड़े-बड़े विरोधी उनके व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर उनके परम प्रशंसक बन जाते थे। प्रेमचन्द ने जब अपनी कटूक्ति के लिए खेद व्यक्त किया तो प्रसादजी बड़ी सरलता से बोले—“मुझे उसका कोई ख्याल नहीं है।” और फिर दोनों में जीवन-पर्यन्त अटूट स्नेह बना रहा।

इस सम्बन्ध में उन्होंने एक बार बाबू मैथिलीशरण गुप्त से अपना क्षोभ व्यक्त किया था। गुप्तजी के एक सम्बन्धी महाशय ने प्रसाद की रचनाओं पर कटु आलोचना छपाई थी। जब गुप्तजी काशी आए तो एक दिन वे राय कृष्णदास की कोठी के नीचे गंगास्नान करने गये। सयोग से प्रसादजी भी वही धोती-तौलिया लेकर पहुँचे। गुप्तजी ने स्नेहपूर्वक उन्हें स्नान करने के लिए आमन्त्रित किया किन्तु प्रसादजी ने उसे स्वीकार नहीं किया। तब गुप्तजी कहने लगे—“सीधे नहीं आओगे तो पानी उछालकर भिगो दूँगा।” प्रसादजी ने तुरन्त उत्तर दिया—“और क्या करोगे तुम? जितना चाहो पानी और कीचड़ उछालो।” संभवतः सन्देह अथवा नैकट्य के कारण उन्होंने ऐसा व्यंग्य कर दिया था।

प्रसादजी अपने सिद्धान्तों के पक्के थे। उनकी बलि बड़े-बड़ों के लिए भी करना उन्हें अभीष्ट न था। प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के विचारों से साम्य न होने के कारण उन्होंने सरस्वती में कभी नहीं लिखा। अपने पुत्र रत्नशंकर को उन्होंने थियोसाफिकल स्कूल से इस्साल निकाल लिया कि वहाँ श्री कृष्णमूर्ति को अवतार माना जाता था। प्रसादजी की दृष्टि में मनुष्य की मनुष्य द्वारा पूजा मनुष्य को अधम बनाती है। यद्यपि इससे पुत्र की पढाई खत्म हो गई किन्तु वे यह मूल्य देकर उसे नहीं पढाना चाहते थे। उनमें आत्मसम्मान की भावना प्रबल थी और संभवतः इसीलिए वे दो-चार मित्रों को छोड़ और किसी के घर कभी नहीं जाते थे। कवि-सम्मेलनों तथा सभा-सोसायटियों को सदा

नमस्कार ही किए रहते थे। अपनी रचनाओं के लिए वे पुरस्कार स्वीकृत नहीं करते थे। नागरी-प्रचारिणी सभा और हिन्दुस्तानी एकेडेमी से मिली रकमों को उन्होंने भाई के नाम से सभा को दान कर दिया था। आर्थिक सकट में पड़ने पर एक महाराजकुमार की सहायता के सुभाव को उन्होंने दृढ़ता से अस्वीकार कर दिया था। एक बार एक पत्रकार की मध्यस्थता से प्रेमचन्द की मुलाकात कवीन्द्र टैगोर से तय की गई। प्रेमचन्द ने उसकी चर्चा प्रसादजी से की और पूछा—“जाऊँ या न जाऊँ?”

प्रसाद—“तो आपने क्या निश्चित किया?”

प्रेमचन्द—“जैसा आप कहे।”

प्रसाद—“मुझे तो यह ठीक नहीं जान पड़ता। कम-से-कम जब इस मुलाकात की बात तय हो गई थी तब कवि ठाकुर की ओर से आपको पत्र मिलना चाहिये था। इससे उनके मिलने का उत्साह प्रकट होता, अन्यथा यह तो मन्दिर में दर्शन करने जाने जैसा है।” हिन्दी के इनने बड़े उपन्यासकार का रवीन्द्रनाथ से एक मध्यस्थ द्वारा, मिलने जाना प्रसादजी को उचित न लगा। प्रेमचन्दजी का भी आत्मसम्मान जाग्रत हो उठा और उन्होंने जाना स्थगित कर दिया।

प्रसाद शांत, गम्भीर और विनोदप्रिय स्वभाव के थे। यद्यपि वे स्वयं कम बोलते थे किन्तु गोष्ठी में चलनेवाली चर्चा की मुस्करा-मुस्कराकर मौज लिया करते थे। क्रोध करना उन्होंने सीखा ही नहीं था। जीवन में एक-दो बार ही लोगो ने उन्हें क्रोधित होते देखा। जवानी में, जिसके सम्बन्ध में वे कहा करते थे कि ‘जवानी कब बीत गई यह जाना ही नहीं’, उनका क्रोध एक बार उद्वुल हो उठा था। बहस करते हुए एक महाशय ने पूछा—“तुम्हारा शिव क्या कर सकता है?” प्रसाद जी अपने को न समझाल सके और उन्होंने उन महाशय के गाल पर एक थप्पड़ जमाते हुए कहा—“मेरा शिव यह कर सकता है।” उन महाशय का सारा बलबला काफूर हो गया और लगे कहने “और मार लीजिये

..... ।” बात वही समाप्त हो गई थी किन्तु बाद में प्रसादजी को अपनी सांप्रदायिक सकीर्णता पर ग्लानि हुई । फिर जीवन में ऐसे अनेक अवसर आये जब दूसरों का पारा चढ़ जाता था किन्तु उनका पारा सदा सन्तुलित बिन्दु पर ही रहता था ।

शिवरात्रि को प्रसादजी अपने घर के शिवालय को खूब सजाते थे और जागरण करके खूब उत्सव मनाते जिसमें अनेक कलाकार और साहित्यिक भी सम्मिलित हुआ करते थे । होलिकोत्सव में नाचते-गाते जनसमूहों के संगीत सुनने में रस लेते और विशेषकर रगभरी एकादशी के अबीर-गुलालयुक्त बाबा विश्वनाथ के शृंगार का आनन्दलाभ प्राप्त करते । राय कृष्णदास के यहाँ एक हठयोगी महात्मा आया करते थे जो लोगो को ‘देव’, ‘भगवन’, ‘प्रभो’ आदि से सम्बोधित किया करते थे । उनके सम्बोधनों का प्रयोग प्रसाद-मित्रमंडली में भी हुआ करता । प्रसादजी को स्वयं ‘प्रभो’ सम्बोधन बहुत रुचा और बातचीत करने में वे इसका इतना अधिक व्यवहार करने लगे थे कि मित्रों ने उनका नाम ही ‘प्रभो’ रख दिया था । उन्होंने ‘इन्दु’ में ‘प्रभो’ शीर्षक एक कविता भी लिखी थी ।

प्रसादजी वाद-विवाद, इण्टरव्यू, टीका-टिप्पणी तथा भूमिका-लेखन आदि से दूर ही रहते थे । अपने निकटतम साहित्यिकों को भी एक पक्ति प्रशंसा की लिखकर नहीं देते । एक बार प्रेमचन्दजी को लेकर जैनेन्द्रकुमार ‘अज्ञेय’ की ‘भग्नदत्त’ की भूमिका लिखाने प्रसाद के पास पहुँचे । जैनेन्द्रजी ने पाण्डुलिपि सम्मुख रखते हुए कहा—“मुद्ई जेल में है । खुद अपना मामला सामने नहीं रख सकता, इससे मेरी बात में दुगुना वजन समझे ।”

प्रसादजी ने पूछा—“कौन है ?”

जैनेन्द्रकुमार—“मैं आया हूँ, कह रहा हूँ, इसी से जान लीजिये ।”

कुछ देर चुप रहकर प्रसाद बोले—“तुम कुछ चाहोगे यह मैंने नहीं सोचा था । पर तमने भी न सोचा होगा कि तम कहोगे और प्रसाद न

कर पायेगा । विनोदशकर व्यास को तो जानते हो ? कितना निकट है । कभी मैं उसके लिए भी कुछ लिखकर नहीं दे सका । अब तुम्हीं बताओ ।”

जैनेन्द्र—“मुझे न पूछिये, क्योंकि मेरा बताना एकदम आसान है । बताता हूँ, लिखना मान लीजिये । और कुछ नहीं तो कारण यही कि अज्ञेय आपके लिए अज्ञात है और जेल में है ।”

प्रसाद ने निस्तब्ध हो जैनेन्द्र की ओर देखा । उनकी आँखें विवशता बता रही थी । फिर “जैनेन्द्र, ” कहकर मौन हो गए ।

जैनेन्द्र ने झेपकर हँसते हुए पाण्डुलिपि अपनी ओर खींच ली और बोले—“कोरा तो आपके यहाँ से कभी कोई गया नहीं; कब कुछ आ रहा है ?”

जलपान आ पहुँचा जो गपशप करते समाप्त कर दोनों जाने के लिए उठ खड़े हुए । प्रसादजी ने बिदा लेते हुए कहा—“कहोगे तो तुम जैनेन्द्र कि एक बात तो तुमने कही और प्रसाद ने वह भी न रखी ।”

“क्यों साहब,” जैनेन्द्र ने कहा—“यह कहना भी अब मुझसे छिन लेगे आप ? एक तो आपने बात रखी नहीं फिर हम कह भी न पाये कि नहीं रखी । कहिये प्रेमचन्दजी यह अन्याय सहा जाय और अपनी वाक् स्वतन्त्रता को छिन जाने दिया जाय ?”

प्रेमचन्द ने ठहाका लगाया जिसमें प्रसाद भी सम्मिलित हो गये । उनके सरल निर्मल हास्य में कही कुछ न था, गलतफहमी की बिल्कुल ही गुंजायश न थी ।

दोनों चल दिये । प्रेमचन्द ने मार्ग में कहा—“तुमने बदला ले ही लिया ।”

जैनेन्द्र—“बदला पहुँच रहा है ? वह तो ज्यो-का-त्यो मुझ तक लौट आया । प्रसाद को उसने छुआ भी नहीं ।”

प्रेमचन्द बोले—“बात ठीक है । खूब आदमी है प्रसाद ।”

प्रसादजी बड़ी सूझ-बूझ के व्यक्ति थे । मितभाषी और मौन

रहकर भी अपनी भावना व्यक्त करने का उनका अपना अनोखा ढंग था। उनकी प्रत्युत्पन्नमति बड़ी प्रबल थी और हाज़िरजवाबी में बड़े तेज थे। एक दिन मैथिलीशरण गुप्त और राय कृष्णदास आदि के साथ प्रसादजी सबेरे ही ५० केशवप्रसाद मिश्र से मिलने चले गए। वे लोग बिना नाश्ता किए निकल गये थे और बातों में कुछ उसका ध्यान न रहा। जब लौटे तो रास्ते में रत्नाकरजी के यहाँ भाँके। कवि के घरं सहृदय श्रोताओं को देख रत्नाकरजी उद्धवशतक सुनाने लगे। सुनते-सुनते इतना विलम्ब हो गया कि भूख व्याकुल करने लगी। रत्नाकरजी से पाठ बन्द करने को कौन कहता? अतएव वाह-वाह करते हुए श्रोता एक-दूसरे को भेद-भरी आँखों से देखने लगे। सहसा प्रसादजी बोल उठे—“रत्नाकरजी हमें तो आपका वह कवित अच्छा लगा ‘चुप रहो ऊँधौ सूधो पथ मथुरा को गहो।’ बस उसे फिर सुना दीजिये।” सब हँस पड़े। रत्नाकरजी भी सकेत समझ गये, किन्तु उठते-उठते उन्होंने छन्द सुना ही दिया।

एक दिन यही मित्र-मण्डली अजमेरीजी का गाना सुन रही थी। उन्होंने एक दादरे की पहली पंक्ति सुनाई—“णी लई राजा तुम्हारे संग भगिया।” उसका अन्तरा वे भूल रहे थे। प्रसादजी की ओर जैसे ही उन्होंने देखा कि वह बोल पड़े—“मुशीजी, इसका यह अन्तरा कैसा होगा—न जाने कब सारी सरक गई और दरक गई अगिया?” वाह-वाह के बीच आशु कवि की सराहना होने लगी।

एक बार प्रसादजी कहीं बैठे हुए थे और कोई कथा-वाचक गोस्वामी तुलसीदास की अश्रुगारिकता पर बल देते हुए यह सिद्ध कर रहे थे कि उनमें कहीं भी अश्लीलता नहीं है। प्रसादजी ने अवसर पाते ही मुस्कराकर धीरे से कहा—“और फडितजी, ‘उमगि नदी अम्बुध पहुँ आई’ में क्या है?” यह सुनकर सब लोग ठहाका मारकर हँस पड़े और राय साहब बोले—“है छटा बनारसी।”

चन्द्रगुप्त नाटक प्रकाशित होने पर राय कृष्णदास ने उसे पढ़ा तो

शायद उसके पात्र चाणक्य के चरित्र की महानता ने उनको सबसे अधिक प्रभावित किया। प्रसाद से मिलने पर राय साहब ने मुस्कराते हुए कहा—“आइए चाणक्यजी।” प्रसाद ने छूटते ही जवाब दिया—
 “तुम्हारे राक्षस बनने पर मुझे चाणक्य बनना ही पड़ा।” और दोनों मित्र खिलखिलाकर हँस पड़े।

एक डाक्टर कहे जाने वाले परिचित सज्जन एक दिन दुकान के सामने से नारियलवाली गली में निकले। रास्ते में एक कटी-पतंग उनके हाथ लग गई थी। प्रसादजी को बैठे देख डाक्टर साहब को मजाक सूझा। उन्होंने वह पतंग प्रसादजी की जाँघों पर रख दी और चलते-चलते कहने लगे—“लडके हो, पतंग उड़ाओ।” परन्तु प्रसाद जी से मजाक करना सरल न था। उन्होंने तुरन्त पुकारा, “डाक्टर ! डाक्टर ! !” डाक्टर के समीप आ जाने पर प्रसादजी धीरे से बोले—“मैं दूसरे की उड़ाई नहीं उड़ाता, इसे ले जाइए।” करारा जवाब मिलने पर डाक्टर अपनी पतंग लेकर चलते बने।

सन् 1936 की लखनऊ प्रदर्शनी देखने का विचार हो रहा था। एक दिन काशी के खादी भंडार में सुनहरे रंग की एक सुन्दर छोट राय साहब को आकर्षित करती जान पड़ी। प्रसादजी ताड़ गये और बोले—“आओ हम-तुम इसका शकरपारेवाला रुईदार ओवरकोट और कटोप बनवाये, और यही पहनकर प्रदर्शनी में निकलें। लोग प्रदर्शनी देखना भूल-भालकर हमको ही देखने लगेंगे।” सुखचिस्मन् प्रसाद को आयु के प्रतिकूल तड़क-भड़क का मजाक उड़ाते देर न लगी।

प्रसादजी की जीवनचर्या बड़ी नियमित और व्यसनशून्य थी। प्रातः उपनिषदों का पाठ, लिखना-पढ़ना, गंगा की ओर या वेनिया बाग में टहलना, जहाँ नित्य प्रेमचन्द और कृष्णदेवप्रसाद गौड़ से भेट होती। लौटकर व्यायाम करते, दूध पीते और अपने सुर्ती-जर्दा के कारखाने में काम करने चले जाते। वहाँ से निवृत्त होकर तेल की मालिश, स्नान-पूजन-भोजन और विश्राम करते। कुछ पढ़ने-लिखने अथवा शतरंज खेलने

के पश्चात् सध्या समय डडा उठाकर नारियल बाजार की दूकान पर चले जाते जहाँ साहित्यिक गोष्ठी जमती । रात्रि में लौटने पर भोजन के उपरान्त लिखने-पढ़ने बैठ जाते, जो देर तक चला करता था । इन्हीं कार्य-कलापो के साथ-साथ साहित्यिक चर्चा, मुलाकात, रचना आदि भी चलती रहती । उनसे सभी प्रकार के लोग मिलने आते और कुछ से खिन्न रहते हुए भी शील और स्वभाव की मृदुलता के कारण कभी मिलने में हिचकिचाते नहीं । यदि कोई हाली-मुहाली के आने पर आपत्ति करता तो कहा करते थे—“दूसरो का सम्मान करना अपने सस्कार के कारण होता है । फिर भूतभावन की गोष्ठी में ब्रह्मा-विष्णु के साथ पिशाच-बैताल भी रहते हैं ।”

पाँच ही छः व्यक्तियों से उनकी घनिष्टता थी, किन्तु वे भी उनके गाभीर्य के कारण प्रायः उनके हृदय के मर्म को न छू पाते । उन्होंने लिखा है—“मित्र मान लेने पर मनुष्य उससे शिव के समान आत्मत्याग, बोधिसत्व के सदृश सर्वस्व-समर्पण की जो आशा रखता है और उसकी शक्ति की सीमा को प्रायः अतिरजित देखता है, वैसी स्थिति में अपने को डालना मुझे पसन्द नहीं, क्योंकि जीवन का हिसाब-किताब उस काल्पनिक गणित के प्राधार पर रखने का मेरा अभ्यास नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य सबके ऊपर अपना पावना ही निकाल लिया करता है ।” प्रसाद सदा देना जानते थे, लेना नहीं । उन्होंने अपने अनेक गद्यगीत केवल इसलिए नष्ट कर दिये थे कि उनके मित्र राय कृष्णदास की साहित्यिक प्रगति में बाधा न पड़े । दूसरो के लिए उनका यह वरदान भी अप्रतिम था ।

प्रसादजी का अध्ययन विस्तृत था, जिसमें वे नित्य कुछ-न-कुछ जोड़ते जाते थे । संस्कृत साहित्य का उनका अध्ययन प्रगाढ़ था । वैद्यक, ज्योतिषशास्त्र, तन्त्र-मन्त्र, संगीत, पाकशास्त्र आदि के विषय में उनकी साधिकार बातचीत लोगों को चकित कर देती थी । इतिहास, पश्चात्य साहित्य और उर्दू-फारसी काव्य में उनकी बड़ी अभिरुचि थी । इत्रो, पुष्पो

और सुतियों के सम्बन्ध में उनकी जानकारी असाधारण थी। सभी कामों से उनकी सुविधा का संकेत होता था—परिधान, व्यवहार, नौका-विहार, आहार, विचार—किसी की व्यवस्था कुशलपूर्ण न हो पाती थी। मोटे रूलदार पुलस्केप कागज को बीच से कटाकर लम्बी स्लिपो पर सुन्दर अक्षरों में लिखते थे। अंग्रेजी का भी उन्हें सूक्ष्म ज्ञान था। 'विराम चिन्ह' कहानी के अंग्रेजी अनुवाद के कई स्थलों पर उन्होंने प्रयोग और मुहावरे सम्बन्धी ऐसे संशोधन किये जिन्हें देखकर कुशल अनुवादक भी दग रह गया था।

प्रसाद के जीवन में एक रहस्य रहा है जो उनके काव्य स्रोत के गहरे पानी पैठनेवालों को भासित होता है। सन्देह किया जाता है कि कवि के जीवन में कोई आकर चला गया था। 'आँसू' के वियोग-वर्णन के मूल में किसी लौकिक आलम्ब का होना आरोपित किया जाता है। इस के आत्मकथा में प्रेमचन्द के बड़े आग्रह पर लिखी उनकी आत्मकथा इस आरोप को बल देती है। उससे किसी की ओर संकेत स्पष्ट हो जाता है। यथा—

उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की,
अरे खिलखिलाकर हँसते होनेवाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया,
आलिंगन में आते-आते मुसक्याकर जो भाग गया ॥
छोटे-से जीवन की कैसी बड़ी कथाएँ आज कहूँ,
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ।
सुनकर तुम क्या भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा,
अभी समय भी नहीं, थूकी सोयी है मेरी मौन व्यथा ॥

उनके साथियों ने उनसे इस विषय पर अनेक प्रश्न किये किन्तु वे सदा हँसकर टाल दिया करते थे। एक मित्र के बहुत पीछे पड़ने पर उन्होंने केवल इतना बताया था कि "प्रेम को प्रकट कर देने से उसका मूल्य समाप्त हो जाता है। हाँ, मेरे जीवन में एक मधुर स्वप्न और

मनोरम कल्पना रही है जिसे मैंने आजीवन सजोने का प्रयत्न किया है । इस प्रीति की पवित्रता को मैंने जीवन का सर्वस्व समर्पित कर भी जीवित रखा है ।” उनके इस कथन से लोगों के सन्देह तथा उनकी रचनाओं के आरोप की सत्यता का पता लगता है ।

तुलसीदास मे आस्था रखनेवाले प्रसाद उनकी इस पक्ति मे बड़ा विश्वास रखते थे ‘जहँ बसि शभु-भवानि सो काशी सेइय कस न ।’ वे काशी छोड़कर कभी बाहर जाना पसंद न करते थे । ऐतिहासिक फिल्मों की कमी की चर्चा करते हुए डाक्टर मोतीचन्द ने उन्हें बम्बई जाने को कहा तो प्रसादजी बोले—“भाई बम्बई जाकर प्रेमचन्दजी को जो मजा मिला वह तुम जानते हो, फिर भी कोशिश करूँगा ?” अन्तिम समय मे उन्हें राजयक्ष्मा हो गया था और डाक्टरों की राय थी कि उन्हें किसी सैनिटोरियम मे भेज दिया जाय किन्तु वे काशी से बाहर जाने को राजी न हुए । तब निकट सारनाथ मे उनके रहने का प्रबन्ध किया गया । किन्तु जब गाड़ी उन्हें ले जाने को द्वार पर आई तो बड़े करुण शब्दों मे उन्होंने कहा—‘अब अन्तिम समय मे काशी न छोड़वाओ । जीवन-भर बाबा विश्वनाथ की छाया मे रहा हूँ, अब कहाँ जाऊँ ?”

उनका अवसान हो जाने पर दूकान के सामने बैठनेवाला बैजनाथ तमोली, जिसको उन्होंने अग्रणीत बार आज्ञा दी थी कि ‘खूब अच्छे पान बनाना’ इतना दुःखी हुआ कि लोगों के बहुत आग्रह करने पर भी उसने फिर वहाँ बैठकर पान लगाना स्वीकार न किया और कहा—“अब किसके लिए पान लगाऊँगा ?” उसने अपना व्यवसाय ही बदल दिया ।

निराला

एक जून की अपराह्न में लखनऊ के सुन्दरबाग के एक दुमजिले मकान की सीढ़ियों पर खड़े होकर मैंने पुकारा—“निरालाजी ।” कोई उत्तर न मिलने पर मैंने उच्च स्वर में दोहराया । “कौन ? ऊपर आइये ।” किसी ने उनीचे शेर की तरह दहाड़ा । मैं तुरन्त ऊपर चढ़ गया । देखा निरालाजी जमीन पर बिछी शीतलपाटी पर बैठे कुछ लिख रहे हैं । उनके लेख का शीर्षक था “गजानन्द शास्त्रिणी” जिसके नीचे पाँच-सात पंक्तियाँ ही लिख पाये थे । अतएव मुझे सामने पड़ी एक दरी पर बैठने का सकेत करने हुए बोले—“थोड़ा यह खत्म कर लूँ ।” मुझको भी अच्छा मौका मिला सब ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने का ।

पहले मैंने उन्हीं को लिया । उनका लम्बा-चौड़ा बलिष्ठ शरीर, पृथु वक्षस्थल, वृषभ स्कन्ध, कम्बु कठ, पनले आकर्षक ओठ, उन्नत मीडयुक्त नासिका, विशाल रतनारे नेत्र, प्रशस्त ललाट, बड़े-बड़े काले केश, आजानु बाहु, किंचित् वक्र उँगलियाँ—सब मिलाकर उनके अजन्ता की कोई सजीव मूर्ति अथवा रोमन युग की कोई संप्राण कलाकृति होने का आभास देते थे । अब मेरी समझ में आया कि श्रीमती सरोजिनी नायडू को उनके एक यूनानी दार्शनिक होने का क्यों भ्रम हुआ था, प्रसादजी ने उन्हें ‘ग्रीक प्रतिमा’ की सजा क्यों दी थी, मुलाबराय उन्हें ‘विरही यक्ष’ क्यों समझे, अमेरिकन मन्त्रिकारो ने उन्हें अपोलो का पुत्र किवा साक्षात् सीज़र का अवतार क्यों माना, नवजादिकलाल उन्हें ‘योगभ्रष्ट योगी’ क्यों कहते थे, सिनेमा में एक पठान को यह विश्वास दिलाना क्यों

कठिन हो गया कि निराला इसी मुल्क का है और पस्तो नहीं जानता । मैं यह विभिन्न कल्पनाएँ उनपर बिठाल रहा था कि शायद उन्हें मेरे निरीक्षण का आभास हो गया । उन्होंने रक्तरेशाओ-युक्त दो बड़े नेत्र मेरे ऊपर फेके तो मैंने तुरन्त कमरे की ओर अपनी नजर घुमा ली ।

वहाँ क्या था ? कोने में एक सुराही जिस पर एक हुण्डा औधा हुआ था । खूँटी पर एक कुर्ता और धोती टँगी हुई थी । आले में दो-एक पुडिया और दीवार पर एक चित्र टँगा था । निरालाजी के सामने कलम-दवात, एक दस्ता कागज और चूना-तम्बाकू रखी हुई थी । अन्दर के कमरे की ओर भाँका तो वह बिलकुल ही खाली जान पड़ा । मुझे स्मरण हो आया कि उनके यहाँ इतना कम सामान देखकर किसी मित्र ने टीका की तो निरालाजी ने कहा था, “भला सिंह की गुफा में क्या होता है ? फिर भी वह वनराज बनकर रहता है और तदनुरूप ही शान से जीवन व्यतीत करता है ।”

मेरी स्मृति में विस्मृति घोलते हुए निरालाजी ने पूछा—“कहिये, कैसे कष्ट किया ?” और फिर परिचयात्मक प्रश्न हुए । मेरे विषय में सब जान लेने पर बोले—“अब पूछिये क्या पूछना है ?” मैंने प्रश्न किया—“आपका प्रारम्भिक जीवन महिषादल के सर्वथा अहिन्दी वातावरण में बीता फिर आपको हिन्दी की ओर किसने आकर्षित किया ?” अतीत की गहराइयों में पैठते हुए बोले—“श्रीमती मनोहरादेवी ने । उनसे विवाह होने के समय मुझे हिन्दी कम आती थी । एक दिन उन्होंने कहा ‘तुमको तो अपनी भाषा तक नहीं आती ।’ बात लग गई और मैं हिन्दी के अध्ययन में जुट गया ।” यह हिन्दी के लिए महत्त्वपूर्ण घटना थी क्योंकि निरालाजी बँगला में भी लिखना आरम्भ कर सकते थे और तब हिन्दी इस महाप्रतिभा से वंचित रह जाती ।

मैंने पूछा—“आपकी सबसे पहली रचना कौन है ?” निरालाजी बोले—“जुही की कली । मैंने इसे ‘सरस्वती’ में प्रकाशित होने के लिए भेजा । जब कई महीनों तक नहीं छपी तो मैं दौलतपुर में पड़ित

महावीरप्रसाद द्विवेदी से मिला और उनसे पूछा कि मेरी कविता क्यों नहीं प्रकाशित हुई ? मेरा नाम पूछ लेने पर वे बोले—‘तुम्हारी तरह तुम्हारे कवितों निराली आय । छन्द-बन्द का हवा खिलाय दीन्हो हूँ । मुद भाव सुन्दर आँय, कविता नीक लागि ।’ फिर उन्होंने छन्दबद्ध कविता ‘सरस्वती’ में भेजने को कहा जिसे मैंने अस्वीकार किया । हिन्दी में पदार्पण करते ही विरोध का सामना करना पड़ा । परन्तु अब तो उसका सामना करने का आदी हो गया हूँ । इन विरोधों ने संघर्ष अवश्य बढ़ाया है, किन्तु इन्हीं के द्वारा मैंने गति प्राप्त की है ।”

फिर बोले—“एक प्रकाशक महोदय ने मेरी कुछ कविताएँ अपनी एक पाठ्यपुस्तक में छापी । अन्त में लेखकों के सम्बन्ध में जो टिप्पणी दी उस में छुटभइयों को तो महाकवि की सजा दी और मुझे कविवर सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ही माना । भावी पीढ़ी के मन में भी मुझे हेठा जमाने की इस युक्ति से मैं क्षुब्ध हो उठा और तुरन्त उनके कार्यालय में पहुँचा । छपे-छपाये फरमे का वह पृष्ठ मैंने फाड़कर फेंक दिया और उनको ललकारा । क्षमायाचना के साथ उन्होंने वह पृष्ठ ठीक करके फिर छपवाने का वायदा किया ।” कुछ रुककर निरालाजी ने कहा—“उर्दू के गढ़ लखनऊ में मैं क्यों बैठा हूँ ? इसीलिए कि यहाँ हिन्दी को जमाना है । प्रयाग में क्या, वहाँ तो हिन्दी का बना-बनाया वातावरण है । हिन्दी की प्रगति के लिए जहाँ संघर्ष की आवश्यकता है वहाँ निराला डटा है, जहाँ रेवडियाँ बैठती हैं वहाँ अन्य ।” वे सहसा चुप हो गए और उनके मुखमण्डल पर एक विचित्र दार्शनिक शून्यता बिखर गई ।

फिर उन्होंने चूना-तम्बाकू हथेली में रगड़कर फटाफट किया और ओठ के नीचे जोर से दबा लिया । खड़े होकर कमरे में घूमने लगे और बोले—“जब से हिन्दी-सेवा में लगा संघर्षों से भिड़ रहा हूँ । उनकी जो स्मृतियाँ उद्वेलित हो उठी हैं उन्हीं को भुलाने का प्रयत्न कर रहा हूँ ।” हाथों को ऊपर उठाते हुए कहने लगे—“अभी ऐसे अनेक संघर्षों से भिड़ने का बाहुबल मुझमें है ।” कुछ देर बाद बोले “आप पान खाइये”

और खिड़की से किसी को पुकारा। एक बालक के आते ही बोले—“बच्चा, इकन्नी के पान ले आओ।” मैंने पैसे देना चाहा तो कुछ क्रुद्ध होकर बोले—“आप मेरा अपमान करते हैं। अतिथि का सत्कार करना मेरा कर्तव्य है।” और फिर आले में पड़े पैसे में से एक इकन्नी बालक की ओर फेंक दी। मेरे पान खा लेने तक निरालाजी शीतलपाटी पर बैठ चुके थे।

मूड बदलने पर बोले—“और कहाँ ? तो तुम अंग्रेजी माँ एम० ए० कीन्हीं हो ? हमारा एक मित्र आँय जो अंग्रेजी के प्रोफेसर और डाक्टर आँय। उनके कहब आँय कि हमारा आँखें शेक्सपियर की तरह आँय। तुम्हारा का ख्याल आँय ?” मैं चुप था, उनके स्वभाव की उग्रता से सशंकित। किन्तु उन्होंने जब आँखें काढ़कर मेरी ओर देखा तो मेरे मुँह से निकल गया—“नहीं, निरालाजी, आपकी आँखें मिल्टन की तरह हैं।” अपने कथन की सदिग्ध प्रतिक्रिया जान पड़ते ही मैंने तुलसी बाबा का सहारा लिया “जाकी रही भावना जैसी, तिन कवि मूरत देखी तैसी—वाली बात है, निरालाजी।” उन्होंने तुरन्त अंग्रेजी में प्रश्न किया—“कौन बड़ा है, शेक्सपियर या मिल्टन ?” फिर झुंझ में पड़ते देख मैंने कहा—“मैं मिल्टन को श्रेष्ठ कवि मानता हूँ।” “क्यों ?” प्रश्न हुआ। मैंने उत्तर दिया—“मिल्टन की शालीनता, कवित्वशक्ति, शब्दशिल्प आदि उसका अपना था। शारीरिक पुष्टता, मौखिक गाम्भीर्य, विशाल नेत्र, बड़ी नासिका, उन्नत ललाट आपका जैसा ही उसके भी था।” फिर मिल्टन की कविताओं पर चर्चा हुई जिससे मुझे जान पड़ा कि उन्होंने उसके ग्रन्थ पढ़े हैं। मिल्टन से वे अंग्रेजी के अन्य कवियों और लेखकों पर आ गए और अन्त में टी० एस० इलियट पर रुककर बोले—“कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, टी० एस० इलियट ने ला जोड़ा।”

मैंने कहा—“निरालाजी, मैं हिन्दी के कई कवियों और लेखकों से मिला हूँ, किन्तु जितना गहन अध्ययन अंग्रेजी लेखकों का आपको है उतना शायद और किसी को नहीं।” वे कुछ प्रसन्न जान पड़े तो मैंने

प्रार्थना की कि मेरी बड़ी अभिलाषा है कि 'जुही की कली' उनके मुख सुनूं। वे मौन हो गए और मैं दुविधा में बैठा रहा कि सुनाते हैं कि नहीं सहसा हाथ उठाते हुए उच्च स्वर में कहने लगे—

विजन-वन-वल्लरी पर

सोती थी सुहाग-भरी स्नेह-स्वप्नमग्न—

अमल कोमल तनु तरुणी — जुही की कली,

दृग बन्द किए, शिथिल-पत्राक में ।

भाषा-भाव-ताल-स्वर-लय सब एक साथ सधे हुए सामने आए। उनके पाठ का सहज प्रवाह, स्वर का उत्थान-पतन, शब्दों पर बल भाव-भगिमा, केशगुच्छ का झटकारना आदि देखकर मैं मुग्ध बैठा रहा। बीच-बीच में वे व्याख्या भी कर देते थे जिससे उनकी कलाकृति और भी खिलती जाती थी। उसे समाप्त कर वे कुछ देर मौन रहे। फिर अपनी अन्य पवित्रियाँ सुनाने लगे तथा उनके समानान्तर भाव के अंग्रेजी, उर्दू, बँगला तथा संस्कृत साहित्य से उद्धरण भी देते रहे। मैंने देखा कि अंग्रेजी के उच्चारण पर उनका विशेष ध्यान था, उर्दू के शीन-काफ दुरुस्त थे और संस्कृत शब्दावली का ध्वनिसौन्दर्य उनके कंठ से खूब निखरता था।

उनसे बातें करते समय मैंने एक विचित्र अनुभव किया। बीच-बीच में एकाएक वे अपने में खो जाते थे, मानो रह-रहकर चिन्तन की डुबकी लगा जाते हों। एक भेदभरी शून्यता, एक घनीभूत आत्मविसृजता उनके मुखमण्डल पर फैल जाती थी। कुछ देर मौन रहकर फिर मानो सोते से जागकर बात करने लगते थे।

थोड़ी देर बाद सध्या बाहर भाँकने लगी और कमरे में उसकी परछाईं गहन होने लगी। वे उठ खड़े हुए और गले में कुर्ता डालते हुए बोले—“चलिये, घूमा जाय।” नीचे उतर कुछ दूर चलकर वे एक चाय-वाले की दुकान पर खड़े हो गए और दो प्याले चाय देने को कहा। मैंने चाय पीने से इन्कार किया तो बोले—“कोल्ड ड्रिंक लीजिए।” मैंने

कहा—“निरालाजी, कुछ इच्छा नहीं है।” तो बोले—“आपकी इच्छा और मेरे कर्तव्य में संघर्ष होने जा रहा है।” पी लेने पर जब मैं पैसे देने लगा तो बोले—“इसके यहाँ मेरा हिसाब रहता है।” मैंने देखा था कि उनके कुछ वाक्यों में ऐसा ‘फाइनेल्टी’ का भाव रहता था कि उसके आगे फिर और कुछ कहना असम्भव हो जाता था।

बड़ी दूर तक हम बिना बोले चले गए। निरालाजी अपने लम्बे-लम्बे डग भरते रहे और मैं भी तेजी में भागता रहा। शायद मुझे दम मारने का समय देने के लिए वे सहसा अमीनाबाद की एक दूकान पर खड़े हो गए और बोले—“यहाँ आप पान लीजिए।” पान खाकर हम फिर चले, किन्तु इस बार बातें करते हुए धीरे-धीरे। निरालाजी ने पूछा—“आप विज्ञान के ज्ञाता हैं तो बताइए यह थ्योरी आफ रिलेटिविटी क्या है?” मैंने कुछ आइन्स्टीन के बारे में, कुछ उसके समीकरण के बारे में, गरम तबके का उदाहरण देते हुए उन्हें बताया। किन्तु इतना तो वे जानते थे। उनकी इच्छा मुझे कुछ गहराइयों में घसीटने की थी, अतएव मैंने कहा—“लोगों का कहना है कि इस सिद्धान्त के समझनेवाले ससार में केवल दस-बारह व्यक्ति ही हैं। और आप निश्चय मानिये कि मैं उनमें से एक नहीं हूँ।” निरालाजी कुछ हँसे और फिर चुपचाप चलते हुए गोलागज के एक मकान पर पहुँचे।

वहाँ बैठकर फिर साहित्यकारों के सम्बन्ध में चर्चा हुई। सभी के सम्बन्ध में उनका उदार दृष्टिकोण था। पन्तजी के प्रति, ऐसा आभास हुआ, निराला के मन में एक स्वस्थ स्पर्धा अवश्य थी, किन्तु द्वेष की भावना नहीं। स्वयं वे पन्तजी की कृतियों की आलोचना करते थे किन्तु यदि कोई दूसरा कुछ कहे तो मुँहतोड़ जवाब देते थे। मैंने ऐसे व्यक्तियों की भी चर्चा की जो उनके विरोधी समझे जाते हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध में भी उन्होंने कोई कटुता नहीं व्यक्त की। बोले—“भाई, कई वर्षों से साथ काम करने पर भी मैं अपने मित्रों की ममता का पात्र नहीं बन

सका । दूसरो से मैं बैर नहीं रखता, पर न जाने क्यों मुझे दूसरो से बैर ही मिला ।”

रात्रि के दस बज रहे थे अतएव मैंने विदा लेनी चाही तो निराला जी बोले—“मै रामकृष्ण की राह देख रहा था । वह आ जाता तो आपको सुन्दर सगीत, विशेषकर धम्मर, जिसे उसको मैंने स्वयं सिखाया है, सुनाता ।” मैंने पूछा—“यह महाशय कौन है ?” उत्तर मिला—“मेरा लडका है, मैरिस कालेज आफ् म्यूजिक में पढता है ।” मैंने पूछा—“वह आपके साथ नहीं रहता ?” तो बोले—“पहले साथ ही रहता था, किन्तु जब मै सबेरे कविता की पक्तियाँ गुनगुनाता था तब रश्मकृष्ण हारमोनियम पर रियाज करते थे । भला एक म्यान मे दो तलवारे कैसे रह सकती है ?” उनके कुटुम्ब के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करने पर उन्होंने बताया—“माता की ममता-स्नेह से मै जन्म के दो-तीन साल बाद ही वचित्त हो गया । स्त्री, पिता, चाचा आदि युद्ध के बादवाली महामारी मे जाते रहे । एक कन्या सरोज थी, उसका विवाह कर दिया था; किन्तु मेरी विवशता के कारण वह भी न बच सकी ।” यह कहते हुए उनकी वाणी मे भारीपन आ गया और फिर गले में अवरोध । दु खद बात आगे बढ़ाना उचित न समझकर हम कुछ देर चुपचाप बैठे रहे । फिर मैं खड़ा हो गया और धन्यवाद नमस्कार करके चला आया ।

दूसरी बार उनके दर्शन कानपुर के एक कविसम्मेलन मे हुए । दिसम्बर की कडाकेदार सरदी मे जनता जब उनकी राह देखते-देखते ऊँघने लगी तब वे मंच पर आए । लम्बी धोती पहिने, शेष शरीर नंगा, किन्तु शीत से किंचित् कम्पन नहीं । जो उन्होंने नाहर की तरह चारो ओर देखा तो लोग खिसक-सम्लकर बैठने लगे । उनकी दृष्टि जब मंच पर घूमते हुए मुझ पर पड़ी तो मैंने नमस्कार किया तब बोले—“अच्छा आप भी ।” मैंने कहा—“आपके नाम का आकर्षण किसको नहीं खींचता ।” इतनी सरदी मे वस्त्रविहीन देखकर मैं सहसा कह बैठा—“आप तो कुछ पहने नहीं है ?” तुरन्त एक वाक्य मे वार्ता समाप्त करने

के लिए उन्होंने अंग्रेजी में कहा—“एम राइडिंग अ ह्वाइट हार्स ।” मैं चुप हो गया । उन्होंने अंग्रेजी संगीत और भारतीय संगीत में कुछ गीत सुनाए । फिर बोले—“यह पीपिल छोड़िये, अब कुछ धूमधडाक सुनिये ।” और उच्च घोष में ‘जागो जागो आया प्रभात’ आरम्भ किया । ऊँघते श्रोता सजग हो गए, छोटे विद्यार्थी अपने स्थानों पर खड़े हो गए और रात्रि के सन्नाटे में उनका शब्द दूर तक फैलता हुआ लोगों को मण्डप के नीचे खींच लाया । ऐसा था चमत्कार कवि-वाणी का ।

एक बार मैं अपने हिन्दी आचार्य के साथ उनसे मिलने उन्नाव गया । हम लोगो ने उन्हें अपने कालेज में आने का निमन्त्रण दिया तो बोले—“गंगा पार जाने का वन जीरो, जीरो, जीरो होगा ।” मैं अवाक् किन्तु सम्हलकर बोला—“विद्यार्थियों की बड़ी लालसा आपके दर्शन की है । उन्ही के आग्रह पर मैं आपके पास यह प्रार्थना लाया हूँ ।” तुरन्त बोले—“अच्छा, फाइव, जीरो, जीरो, स्टूडेंटस् कन्सेशन ।” मैंने कहा—“पत्रम्-पुष्पम्-फलम् से आपका स्वागत करूँगा । बच्चों से चन्दा करना आपकी शान के खिलाफ समझता हूँ ।” तुरन्त अंग्रेजी में बोले—“अच्छा, कालेज के प्राचार्य और हिन्दी के आचार्य बुलाने आए हैं अतएव सब माफ करता हूँ । केवल सम्मान की व्यवस्था ए वन होनी चाहिए ।” हम लोगो ने उसका आश्वासन दिया ।

कुछ देर चुप रहने के बाद बोले—“लोग कहते हैं कि मैंने श्रमिक और शोषित वर्ग के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा । ‘वह तोड़ती थी पत्थर, इलाहाबाद के पथ पर’ न लिखकर यदि ‘आलोचक के सर पर’ लिख देता तो जल्दी समझ में आता । निराला ने क्या नहीं लिखा है ? कुकुरमुत्ता में तो शोषण का ही रूपक बाँधा है । आपने उसे पढ़ा है ?” हम लोगों के न बोलने पर वे सुनाने लगे ‘एक नवाब, फारस से मँगाये थे गुलाब ।’ घण्टे-भर सुनाने के बाद उन्होंने पूछा—“शोषक और शोषित क्या चित्रण यहिमाँ नीक बनि पड़ा है की ‘छन-छन, छन-छन, छन’ माँ ?” फिर उन्होंने दो पुस्तकें मँगाई और ‘कुकुरमुत्ता’ मुझे तथा

‘बिल्लेसुर बकरिहा’ आचार्य को दी। न जाने क्यों मैंने आचार्य से अपनी पुस्तक बदल ली जो उन्होंने देख लिया। उनकी भृकुटी तन गई लाल-लाल नेत्र निकल आए और आवेग में बोले—“क्यों ? कुकुरमुत्ता को आप क्या कम समझते हैं ?” मैंने कहा—“कदापि नहीं। बचपन में पुरवा के निकट बिल्लेश्वर महादेव के मेले में जाया करता था अतएव नाम का आकर्षण है।” तुरन्त शान्त हो गए और बोले—“अदल-बदल कर दोनों पढ़िये।” चलते समय हमने अपना निमंत्रण दोहराया तब बोले—“भाई, अब हम सन्यास लेबै हमका दिक्क न करौ। वैसी कबौ गएन तौ दीख जाई।” यह समझकर कि किसी बन्धन में बँधना उन्हें स्वीकार नहीं हम वापस चले आए। किन्तु आने के पूर्व हम लोगो ने चौधरी साहब से, जिनके यहाँ निरालाजी ठहरे थे, बात की तो पता चला कि आजकल निरालाजी बड़े उद्विग्न हैं और सन्यास लेने की धुन उन पर जोरो से सवार है।

ऐसे थे हिन्दी-साहित्य के युगप्रवर्तक कलाकार जिन्होंने छन्दों के बन्धन, रसों एवं भावों की सकीर्णता, रूढ़ियों की जकड़ और हिन्दी की अवहेलना के प्रति उग्र विद्रोह कर एक नये युग का प्रादुर्भाव किया। निराला उन्नाव जिला के वीवापुर स्टेशन से लगभग दो मील पर स्थित गढाकोला गाँव के रहनेवाले थे। उनके पिता प० रामसहाय त्रिपाठी बगाल के महिषादल राज्य में सौ सिपाहियों के ऊपर जमादार थे। वही निराला का जन्म सन् 1896 में वसन्त पंचमी के दिन हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा राज्य के हाई स्कूल में बगला माध्यम से हुई। विद्यार्थी अवस्था में उन्हें नाटक खेलने, राज्यमन्दिर में रात-रात जगने, बंदूक चलाने तथा शौला खेलने में रुचि थी। वे प्रायः राज्य के अखाड़े में कुस्ती लड़ने जाते थे, जिसकी मिट्टी मुलायम बनाने के लिए तेल से सींचा जाता था। निराला के पिता उग्र तथा कठोर स्वभाव के थे। त्रुटियों के लिए पुत्र की बड़ी ताड़ना करते थे यहाँ तक कि जब तक वह बेसुध नहीं हो जाता था उनकी ताड़क क्रिया बन्द नहीं होती थी। निरालाजी ने लिखा

है—“मारते वक्त पिताजी इतने तन्मय हो जाते कि उन्हें भूल जाता था कि दो विवाहों के बाद पाये इकलौते पुत्र को मार रहे हैं। मैं भी स्वभाव न बदल पाने के कारण मार खाने का आदी हो गया था। चार-पाँच साल की उम्र से अब तक एक ही प्रकार का प्रहार पाते-पाते सहनशील भी हो गया था और प्रहार की हद भी मालूम हो गई थी।”

यदा-कदा निराला अपने घर वैसेवाड़े भी आते थे जहाँ किसानों के साथ रहना और उनके बालको के साथ धूल में गोलियाँ खेलना उनको प्रिय था। उनके गाँव में आते ही हर्ष से बालमडली गाने लगती थी ‘आया, निराला, बड़ी नाकवाला, काया विशाला, गढाकोलवाला।’ पढ़ने में निराला अच्छे थे, उनकी स्मरण शक्ति तीव्र थी, किन्तु कविता की ओर अधिक आकर्षण होने के कारण वे गणित की नीरस कापी को चुहचुहाते पद्यों से सरस कर देते थे। किसी ने उन्हें बताया कि स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर नवी कक्षा पास है कि उनका आदर्श जागा और उन्होंने सोचा “मुझे रवीन्द्र से कम थोड़े ही होना है”; और परीक्षा नहीं दी ताकि केवल नवी कक्षा ही पास रहे।

चौदह वर्ष की अवस्था में चाँदपुर जिला फतेहपुर में निराला का विवाह मनोहरादेवी से कर दिया गया। “उनके हिन्दी के प्रकाश, प्रथम परिचय के समय मैं आँखे नहीं मिला सका—लजाकर हिन्दी की शिक्षा के सक्लप से पिता के पास चला गया था।” विद्योत्तमा और रत्नावली की भाँति मनोहरादेवी को भी अपने पति को हिन्दी का साहित्य-कार बनाने का श्रेय प्राप्त है। निराला वैसेवाड़ा और महिषादल में आते-जाते रहे। ससुराल जाते समय उनके पिता उन्हें तिगुना खाने और रोज़ रूह की मालिश कराने का आदेश दिया करते थे।

सन् 1916 ई० में निराला के पिता को शकवा मार गया। अतः वे उन्हें वैसेवाड़े ले आये जहाँ उनकी बाद में मृत्यु हो गई। युद्धोपरान्त महामारी ने उनके पूरे परिवार को छिन्न-भिन्न कर दिया। सब घर का भार उन्हीं पर आ पड़ा। अतएव वे महिषादल में नौकरी करने

चले गए। इक्कीस वर्ष की आयु में पत्नीवियोग ने उनके मन में ससार के प्रति एक क्षोभ-भरी उदासी भर दी जिससे उनमें एक प्रकार की अन्यमनस्कता आ गई। इसकी चर्चा जब राज्याधिकारियों में हुई तब निराला इस्तीफा देकर चले आए। उन्होंने अपने पुत्र और पुत्री को नानी के यहाँ रख दिया, फिर भी घर की परिस्थितियाँ ऐसी थी कि उन्हें कमाना आवश्यक हो गया। प० महावीरप्रसाद द्विवेदी की सिफारिश से उन्हें रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रकाशित 'समन्वय' पत्र के सम्पादक का पद प्राप्त हो गया। उस समय उनकी आर्थिक विपन्नता इतनी थी कि उन्होंने परिवार के खर्च के लिए बाग का चारू बेचा, बर्तन बेचने तक का आदेश अपने भतीजों को दिया, बने-बैने पर रहे और उपवास भी किए। उनकी निम्नांकित पक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं

दुख ही जीवन की कथा रही,

क्या कहूँ आज, जो नहीं कही।

महिपादल में रहकर निराला ने कलकत्ता से काफी सम्पर्क स्थापित कर लिया था। उनकी बँगला कविताओं की चर्चा वहाँ पहुँच चुकी थी। 'समन्वय' में रहकर उन्होंने विवेकानन्द-साहित्य पढा और फिर उसका अनुवाद भी किया। उनके अद्वैतवाद की निराला पर गहरी छाप पड़ी और सन्यासियों के बीच रहने से उनको कुछ शान्ति भी मिली। दो वर्ष बाद 'समन्वय' छोड़कर निराला सेठ महादेवप्रसाद द्वारा निकाले गए 'मतवाला' के सम्पादकमंडल में चले गए। इस पत्र में निरालाजी ने कविताओं के अतिरिक्त साहित्य और दर्शन पर लेख लिखना आरम्भ किया। गरगर्जसिंह वर्मा साहित्य-शार्दूल के कल्पित नाम से वे उसका 'चाबुक' स्तम्भ लिखने लगे। ज़नाबअली नाम से एक कहानी भी लिखी, पत्र के तीसरे अंक में 'यूही की कली' कविता छपी जिसके नीचे पहली बार उनका नाम सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' निकला। उन्होंने अपना उपनाम 'निराला' 'मतवाला' के ही अनुप्रास पर रखा था।

उनका निराला नाम बड़ा सार्थक सिद्ध हुआ। वे शरीर, जीवन

और साहित्य सभी में असाधारण थे। उनका डील-डौल, चाल-ढाल, खाना-पीना, रहन-सहन, बात-चीत, भाषा-भाव, छन्द-बन्द, तर्क-वितर्क सब कुछ निराला था। उनके विशालकाय व्यक्तित्व को देखकर आतंक उत्पन्न होता था, किन्तु उनके मुखरित होते ही सहज आत्मीयता बह चलती थी। जहाँ उनमें एक ओर दुर्गमतीर पौरुष की कठोरता थी, वहाँ दूसरी ओर शिशुमुलभ कोमलता एवं करुणा। जहाँ एक ओर जीवन-परिस्थितियों से अविराम संघर्ष तहाँ दूसरी ओर अनवरत साहित्य-साधना। जहाँ एक ओर आर्थिक विपन्नता तहाँ दूसरी ओर उन्मुक्त दानशीलता। एक ओर उत्कट साहित्यिक विरोध, दूसरी ओर सबके प्रति व्यापक सद्भावना। कभी ससार-लिप्त तो कभी निर्विकार; कभी लहर में, तो कभी समाधिस्थ; कभी आशुक्रुद्ध तो कभी आशुसंतुष्ट; कभी छैल-छबीला तो कभी फटेहाल; कभी कडाह-प्रसाद, कभी महाप्रसाद; कभी घी घना, कभी सूखा चना, कभी वह भी मना। हर चीज में ग्रैण्ड स्टाइल पर घर में भूँजी भाँग नहीं। आपके साथ कड़े-से कड़ा विरोध, गरमागरमी, यहाँ तक कि बाकायदा भगड़ा, घण्टे दो घण्टे के बाद तटस्थ, उदार दार्शनिक, कोई द्वेष नहीं, कोई कीना नहीं, कोई शिकवा नहीं। उनके तीखे व्यंग्य की विद्युत् रेखा से आप झुलसे नहीं कि तुरन्त सद्भावना के जलद की वर्षा। उनमें विरोधी गुणों का ऐसा सामजस्य कि इन-सा व्यक्ति विरला ही मिलेगा तभी तो निराला कहलाया। किन्तु उनकी सर्वोपरि नैरालिक विशेषता थी उनमें वाणी और कर्म का एकाकार होना। यही वे जन-साधारण से भिन्न थे और शब्द के वास्तविक अर्थ में निराला थे।

निराला में ऐसा स्वभाव, ऐसे व्यक्तित्व के गुण कई प्रभावों से निर्मित हुए थे। बचपन में माता के वात्सल्य से वंचित रहने से और पिता की कठोर ताड़ना से उनमें सहनशीलता, निर्भीकता और उद्दण्डता आई। डलमऊ के अवधूत टीला और महिषादल के श्मशान में वे निर्द्वन्द्वता से विचरते थे। वैसवाड़े ने उन्हें कवित्तरस का कोमल स्रोत और दुर्धर्ष युद्धवृत्ति, ग्रामीण सादगी और कृषक की ईमानदारी, श्रमसाधना और

विनोद-वृत्ति दी थी; तो बंगाल ने उन्हें भावुकता, राष्ट्रीय चेतना, आकर्षण और दार्शनिकता प्रदान की थी। महिषादल के राज्यपरिवार में रहने के कारण एक राजसी बानगी भी उनमें मिलती थी। उन्होंने स्वाध्याय द्वारा बहुत पढ़ा और गुना था जिसका भी प्रभाव उन पर था। उन्हें देखकर कबीर की अक्खड़ता, तुलसी का विनय, रवीन्द्र की मनस्विता और विवेकानन्द की दार्शनिकता साकार हो उठती थी।

अपनी शिक्षा की कमी को पूरा करने के लिए निराला ने बड़े मनोयोग से हिन्दी, बंगला, संस्कृत, अंग्रेजी और उर्दू साहित्य का अध्ययन किया। पढ़ने बैठ जाते तो आना-जाना, बातचीत करना सब बन्द करके सप्ताह दो सप्ताह स्वल्पाहार करके नियमपूर्वक रात-दिन जुटे रहते। वह समाप्त होने पर अकेले घूमने निकलते और पढ़े का मनन करते हुए खूब घूमते थे। उनको सभी भाषा के प्रमुख कवियों की श्रेष्ठ कविताएँ कठस्थ थीं। जब कालिदास के श्लोक अथवा रवीन्द्र की रचनाएँ सुनाने लगते तो झुकी बाँध देते थे। विविध साहित्य की बहु-विज्ञता से व्यक्ति में जो आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है वह निराला में था। इन भाषाओं को वे धाराप्रवाह बोलते थे, किन्तु उनका समय-समय पर प्रयोग उनकी मनोदशा का द्योतक होता था। जब वे अत्यन्त प्रसन्न होते अथवा परम आत्मीयता दिखाना चाहते थे तो अपनी मातृभाषा बैसवाड़ी में बोलते थे। बंगला को भी वे अपनी मातृभाषा मानते थे और उसका प्रयोग भी वैसे ही अवसरों पर करते थे। किन्तु जब किञ्चित् रुष्ट होते अथवा मतभेद बताना चाहते थे तो संस्कृत-गर्भित हिन्दी बोलते थे। जब क्रोध आता अथवा विरोध दर्शाते तो उर्दू में भाषण करते थे। और जब विशेष रौद्रभाव होती अथवा दूरत्व जताना चाहते तो अंग्रेजी में वेग से बोलने लगते। c

निराला जो भी लिखते बड़े परिश्रम से लिखते थे। कविता लिखते समय तो वे पूरे तल्लीन हो जाते थे। भावों के साथ अक्षरों को भी सँवरने में बड़ा मानसिक और शारीरिक श्रम करते। जब वे लगातार

आठ-दस घण्टे लिखकर उठते तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई मजदूर भट्ठी के सामने तपकर बाहर निकला है। उनके चेहरे पर एक तनाव और आँखों में थकान के साथ सतोष की झलक दिखाई देती थी। काव्य-सृजन उनके लिए एक तपस्या थी। वे कहते भी थे—“मैं जब कुछ लिखने बैठता हूँ तब मेरा स्तो सरस्वती से एक पूरा द्वन्द्व-सा होता है। तब कहीं मैं कुछ लिखता हूँ।” बहुधा निरालाजी रात को सोते से उठकर छत पर चले जाते थे और वहाँ घण्टों बैठे कविता करते रहते थे। गढा-कोला में रहते तो वहाँ किसी अमराई की शीतल छाया में जमीन पर पेट के बल लेटे हुए दिन-भर लिखा करते; पास में कागज बिखरे पड़े रहते और डोरी में बंधा एक लोटा रखा रहता। निबन्ध या समालोचना लिखने में कभी किसी ग्रन्थ की सहायता नहीं लेते थे। ऐसा लगता था मानो उनके पास एक अघट खजाना है, एक वृहत् शब्द-भंडार है। लिख चुकने पर ऐसा आभास होता था कि अभी भी पर्याप्त मात्रा में बच गया है जो लिखा जाना बाकी है।

जब निराला मुक्त छंद, स्वच्छंद भाव और नई भाषा लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे तो रूढ़िवादियों ने उनका विरोध किया। पहले उन्हें वृज-भाषा के समर्थकों से विरोध मिला और फिर उनकी कविता के न समझने वालों से। उनके छन्द रबर छन्द, केचुग्रा छन्द के नाम से पुकारे गये, उन की भाषा दुरूह बताई गई। किसी सयाने ने उनसे प्रश्न किया कि उनकी कविता किस वाद के अन्तर्गत आती है। निराला ने योही मजाक में कह दिया—“यह छायावाद है। क्योंकि नायक-नायिका की छाया यहाँ पवन और कली की रूपरेखा में स्पष्ट हुई है।” तब से इस काव्य-धारा का नाम ही छायावाद पड़ गया। जो विरोध आए उनका सामना निराला ने अदम्य साहस और निर्भीकता से किया और बराबर अपने मार्ग पर चलते रहे। वे कहा करते थे “मेंढकों की टर्र-टर्र से बादलों का गरजना नहीं सकता।” पहले निराला ने आलोचकों को उत्तर देना आरम्भ किया। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद को बाहर की चीज़

बताया, भारत की नहीं। तो निराला ने लिखा—“पं० रामचन्द्र शुक्ल की ‘काव्य मे रहस्यवाद’ पुस्तक उनकी आलोचना से पहले उनके अहंकार, ऐठ, मिथ्याभिमान, गुरुडम तथा रहस्यवादी तथा छायावादी कवि कहलानेवालो के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है। ऐसे दुर्वासा समालोचक कभी भी किसी कृति-शकुन्तला का कुछ बिगाड़ नहीं सके, अपने शाप से उसे और चमका दिया।”

‘पल्लव’ की भूमिका मे पंतजी ने निराला के नए छन्दो का मजाक उड़ाया। उनका उत्तर निराला ने यो दिया—“मै जानता हूँ कि एक मार्जित सुहृद पर मैने तलवार चलाई। उनके अपराध की गुरुता को मैं सिर्फ इसलिए नहीं सहन कर सका कि प्रतिभा के युद्ध में उन्होने बेकसूर निराला को मारा और अपने सम्बन्ध मे सब कुछ पी गए।” जोशी-बन्धुओं के लेख ‘साहित्य-कला और विरह’ का उत्तर उन्होंने ‘कला के विरह मे जोशी-बन्धु’ शीर्षक लेख मे दिया। किन्तु यह सब उनकी इच्छा के विरुद्ध था जैसा इस लेख के प्रारम्भिक अंश से मालूम होता है, “कभी सोचता था, दलबन्दी के दलदल मे न फँसूंगा, मार का जबाब प्यार से दूंगा, परन्तु ‘आपन चेती होय नहि, हरि चेती तत्काल’ की आफत का पहाड़ हरि-इच्छा से मुभी पर आ टूटा। जिस रोज मैने साहित्य के खाते मे नाम लिखाया, उसी रोज से हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने पाठ पढ़ाना शुरू किया कि जब तक जियो अपने हाथो अपनी नाक काटकर दूसरो का सगुन बिगाडते रहो, साहित्य सेवा के यही माने है।”

तदन्तर निराला ने आलोचको का मुँह बन्द करने के लिए उनके ही गढ़ मे घुसकर मार-काट मचाने की नीति अपनाई। आलोचक कहते थे ‘कि तुम्हे भाषा नहीं आती, तुम्हें छन्द-ज्ञान नहीं, तुम्हारे भाव चोरी के हैं, तुम्हारे शब्द वाग्जाल हैं।’ निराला ने कहा कि पहले तुम्हारे साहित्य की बानगी देखी जाय। देखें बड़े-बड़े सम्पादक किस तरह की भाषा लिखना सिखाते हैं। इस भगडे मे ‘मतवाला’ के ‘चाबुक’ और ‘चलती चक्की’ बड़े काम के सिद्ध हुए। निराला ने इन स्तम्भो मे हिन्दी के

धुरन्धरों के पैरो के तले से जमीन खिसकाना शुरू किया। 'माधुरी' मे लाहौर पर एक लेख छपा जिसकी पहली पक्ति थी 'पुरातन काल से चली आने वाली पंजाब की राजधानी लाहौर ने जितने परिवर्तन देखे.....' निराला ने 'चली आने वाली' वाक्यांश पर टिप्पणी की। "श्रीमती लाहौर के पैर बड़े मजबूत हैं क्योंकि पुरातन काल से चलती ही आ रही है। कहीं बैठी नहीं, विश्राम जरा भी नहीं किया। न जाने अभी कब तक चलना पड़े। उनसे प्रार्थना है कि हिन्दी संसार मे इस तरह मनमानी चाल न चले क्योंकि इस वन मे बबूल के काँटों की कमी नहीं। छिद जाएँगे तो निकालने मे आफत होगी। उनके सपूत पंजाबी उन्हें चलाते हैं तो चलाये पर लखनवी सम्पादक नजाकत की राजधानी मे भी इतने बेदर्द हो जाएँ कि उन्हें चलने से न रोके यह बड़े परिताप की बात है।"

पत्र-पत्रिकाओं ने आन्दोलन शुरू किया कि निराला भाषा दुरुह बनाकर बलात् हिन्दीवालों पर रौब जमाना चाहता है, तो निराला ने लिखा—“हिन्दी के महारथी, दूध-पीते बच्चे नहीं जो रौब मे आ जाएँ। दुरुहता—बड़ी-बड़ी सभाओं मे पढ़ने से लोग प्रभावित होते हैं, फिर दुरुहता कैसी? मुक्त छन्द—तुकबन्दी के सामने हमेशा धाक जमा लेता है। कविता समझ मे नहीं आती—यह प्रश्न मानो जनता का नहीं थोड़े-से आलोचकों का है।” निराला को लेकर कई विवाद चले 'साहित्यिक सन्निपात, कला-कला के लिए' इत्यादि, उन सभी का मुंहतोड़ जवाब निराला ने दिया।

निराला उन इने-गिने साहित्यकारों मे थे जो हिन्दी के लिए जिंये और उसी के लिए मरे, तथा आजीवन तन-मन-धन से उसकी सेवा मे जुटे रहे। उनका कहना था—“साहित्य मेरे जीवन का उद्देश्य है, जीने का नहीं। यह सत्य है कि मैं जीता भी अपने साहित्य से हूँ किन्तु वह मेरे जीने का साधन-मात्र नहीं।” उन्होंने उच्च कोटि की मौलिक रचनाओं द्वारा साहित्य-भण्डार भरा और हिन्दी मे एक नवयुग का

अवतरण किया । काव्य, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, निबन्ध, समालोचना, नाटक, जीवनी, अनुवाद—सभी कुछ तो उन्होंने लिखा । लोगो ने उनका विरोध किया, प्रकाशको ने उनका शोषण किया, उन्होंने कष्ट सहे, पैसे पैसे के मोहताज रहे फिर भी सत्सार्हित्य-सृजन में लगे रहे । उनके सन्यास लेने की चर्चा से जब हिन्दी जगत् सिहर उठा, तब भी उन्होंने हिन्दी-सेवा से मुँह न मोड़ने का अश्वासन दिया—“अब ठीक है । जहाँ पहुँचे किसी नीम या पीपल के नीचे बैठ गए । दो रोटियाँ माँगकर खा ली और गीत लिखने लगे ।” लोगो के व्यवहार से खिन्न होकर वे अंग्रेजी में लिखना आरम्भ करने की धमकी देते थे किन्तु हिन्दी-भाषियों के सौभाग्य से उनकी धमकी अमल में न आ सकी ।

साहित्य-सृजन के साथ ही वे हिन्दी की रक्षा के लिए सदा कटिबद्ध रहे । जिसने उसकी ओर उँगली उठाई उसी को ललकारा, चाहे वह कितना बड़ा दिग्गज क्यों न हो । इन्दौर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में सभापति के आसन से महात्मा गांधी ने कहा—“हमारी राष्ट्रभाषा में अभी तक कोई रवीन्द्र नहीं है ।” इसे सुनकर निराला भिन्ना उठे । लखनऊ कांग्रेस में जब गांधीजी आए तो निराला उनसे मिलने के लिए बेचैन घूमते फिरे । लोगो ने मिलनेवालो को हतोत्साह करने के लिए महात्माजी का निवासस्थान ही गुप्त रखा । एक दिन निराला ने देखा कि एक बकरी ताँगे पर गोमती-पार ले जाई जा रही है । वे फौरन ताड़ गए कि यह गांधीजी की बकरी होगी और उसी का पीछा कर स्थान ढूँढ लिया । महादेव देसाई से बोले—“गांधीजी से कह दीजिए कि हिन्दी के कवि निराला, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति गांधीजी से मिलने आए हैं ।” गांधीजी के समक्ष पहुँचकर निराला ने कहा—“अब हिन्दी में भी नये-नये रूप, नये-नये छन्द और नये-नये भाव दिए जाने लगे हैं । मैं आपसे निवेदन करने आया हूँ कि आप हिन्दी की इन चीजों को सुनें ।”

गांधीजी बोले—“हिन्दी तो मैं कुछ-कुछ ही जानता हूँ ।”

निराला ने पूछा—“तो आपको क्या अधिकार है कि आप कहें कि हिन्दी मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर कौन है ?” यह सुन सब सन्न हो गए किन्तु निराला कहते रहे—“बँगला मेरी वैसी ही मातृभाषा है जैसी हिन्दी । मैं आपसे आध घण्टा चाहता हूँ । कुछ चीजे चुनी हुई रवीन्द्रनाथ की सुनाऊँगा, उनकी कला का विवेचन करूँगा, साथ ही कुछ हिन्दी की चीजे सुनाऊँगा ।”

महात्माजी बोले—“भाई, मेरे पास समय कहाँ है ?” तो निराला ने केवल अपनी ही रचनाएँ सुनाने की इच्छा प्रगट की ।

महात्माजी ने कहा—“अपनी किताबे मेरे पास भेज दीजिएगा ।”

निराला हँसकर बोले—“आपको हिन्दी नहीं आती, आप कह ही चुके हैं । आप अपने यहाँ के हिन्दी के जानकारो के नाम बताइए जो मेरी किताबो पर राय देगे ।”

समय हो चुका था अतएव महात्माजी ने हाथ जोडे और निराला उठकर चल दिए ।

हिन्दी-हिन्दुस्तानी के भगड़े को लेकर निराला पण्डित नेहरू से भी भिडे । एक ही रेलगाडी मे यात्रा करते समय वे पण्डितजी के डिब्बे में पहुँचे और दूसरा स्टेशन आने तक हिन्दुस्तानी के खिलाफ वक्तव्य देते रहे । अन्त मे यह कहकर चले आए—“पण्डितजी, यह बात मामूली अफसोस की नहीं कि आप जैसे सुप्रसिद्ध व्यक्ति इस प्रान्त मे होते हुए भी इस प्रान्त की मुख्य भाषा हिन्दी से प्रायः अनभिज्ञ है ।” हिन्दी को उचित स्थान दिलाने के लिए उन्होने पं० गोविन्दवल्लभ पंत से भी कई बार झकझक की । फैजाबाद साहित्य-सम्मेलन मे जब बाबू सम्पूर्णानन्द ने अपने भाषण मे कहा—“कवियो को राजनीतिज्ञो का साथ देना है” तो निरालाजी तुरन्त बोल पड़े—“हिन्दी के कवि राजनीतिज्ञो से और आगे हैं ।”

इतना ही नहीं वरन् हिन्दी या हिन्दीवालो पर यदि कोई धन, पद अथवा अधिकार के कारण रौब गालिब करना चाहता तो वह भी

उन्हे सहन नहीं होता था। एक राजा साहब के सम्मान में लखनऊ के एक प्रकाशक ने चायपानी का आयोजन किया और उसमें अनेक साहित्यकारों को बुलाया। राजा साहब के आने पर सब खड़े हुए किन्तु निराला बैठे ही रहे। एक वयोवृद्ध साहित्यकार सबका परिचय कराने लगे—“गरीबपरवर यह अमुक है, गरीबपरवर यह तमुक हैं।” इस गरीबपरवर की धुन में जब वे निराला के पास पहुँचे और उन्होंने अपना सम्बोधन जैसे ही दुहराया कि निराला खड़े होकर कहने लगे—“हम वह हैं, जिनके बाप-दादों के बाप-दादों की पालकी तुम्हारे बाप-दादों के बाप-दादा उठाया करते थे।” सब सन्नाटे में आ गए और राजा साहब की दृष्टि से अवज्ञा का भाव गायब हो गया।

हिन्दी के श्रेष्ठ कवि को आर्थिक सहायता देने की उमंग में रायगढ़ के राजा ने एक पत्र को पत्र देकर निराला के पास भेजा। निराला उनसे इधर-उधर की बातें करते रहे और साथ-ही-साथ हाथों से उस पत्र को मोड़-माड़कर टुकड़े-टुकड़े करते रहे। बिदा होते समय वह जब पत्र का उत्तर माँगने लगे तो मानो सोते से जागकर बोले—“अरे, इस पत्र का उत्तर ! ओह, वह पत्र तो अब टुकड़े-टुकड़े हो गया। बस यही उत्तर आप मेरी ओर से पहुँचा दीजिए।” एक बार छतरपुर महाराज के निमन्त्रण पर वहाँ गए। जाते ही बीमार पड़े और बीमारी से ठीक होते ही भाग खड़े हुए। जब ओरछा-नरेश ने निराला को सब सुविधाएँ देकर अपने राज्य में रहने को कहा तो बोले—“महाराज छत्रसाल ने भूषण त्रिपाठी को अपने यहाँ ले जाने के लिए भूषण की पालकी में अपना कंधा लगाया था। तो क्या सूर्यकान्त त्रिपाठी मोटर से ओरछा जाएगा ?”

मौ भारती के इस वरद पुत्र ने कभी अपने को लक्ष्मी-पुत्रों के सम्मुख नतमस्तक नहीं होने दिया। ‘लंगीला’ के सचालक ने अपने स्वत्वाधिकार के बल पर किसी सेठ की घरेलू कहानी लिखाकर उसका प्रूफ उनके पास भेज दिया। सेठ बदनामी के डर से सम्पादक निराला के पास पहुँचे।

निराला तमतमा उठे और कम्पोज की हुई गेली फेकते हुए सेठ को अभय वरदान दिया। जब संचालक आए तो निराला खूब बिगड़े, हिसाब-किताब फाड़ डाला और काम छोड़कर चल दिए। निराला के एक साहित्यिक सम्मान के सभापति एक उद्योगपति ने लिखित भाषण पढ़ते हुए कहा कि “तुलसीदास तो मेरी समझ में आ गए किन्तु निरालाजी को अभी तक नहीं समझ सका हूँ।” निराला बीच में ही काटकर बोले—“निराला को समझने के लिए अण्टी में पैसा नहीं खोपड़ी में अक्ल चाहिए।” किसी अन्य के ऐसा कहने पर वे प्रायः कहा करते थे—“हिन्दी में अभी समझ वाला युग नहीं आया है। निराला को समझने के लिए अभी समय लगेगा। यह युग अभी तुतला रहा है। निराला अभी एक सदी आगे की बात कहता है।” किसी फिल्म कम्पनी ने निराला को एक हजार रुपये मासिक पर बुलाया तो बोले—“मैंने तो अब तक सौ रुपया माह भी नहीं कमाया तो हजार का हिसाब मैं क्या जानूँ?” नौकरी की बात होते ही वे कहने लगते थे—“नौकरी हम ना करी गर करी तौ कटि गई यह नाक री।”

कविसम्मेलन या साहित्यिक गोष्ठियों में उन्हें यदि किंचित् अपमान का आभास हो जाता तो फिर नहीं जाते थे। बहुत आग्रह होता तो कड़ी शर्तें लगाते थे। उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई बात हुई कि वे बिगड़ पड़ते थे। एक बार मेरठ कालेज की तुलसी-जयन्ती में पधारने का निमन्त्रण मिला। निराला ने कहा—“मुझे प्रचुर धन दीजिए। जब सभास्थान में मैं पहुँचूँ तो खड़े होकर सब मेरा स्वागत करें और जब तक मैं कविता पढ़ूँ सभापति खड़े रहे।” और शर्तें पूरी की जा सकती थी, किन्तु सभापति नगर के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति मनोनीत हो चुके थे, अतएव उनका खड़ा रहना कठिन था। मगर लोगो ने इसका भी हल ढूँढ निकाला और लिख भेजा—“जिस सम्मेलन में आप पधारें उसमें किसी दूसरे को सभापति बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता।” निराला अब क्या कहते, अतएव पहुँचे। जयन्ती में जब वे कुछ भाषण

करने लगे तो चारो ओर से आवाजे आने लगी—“कविता सुनाइए।” ऐसी पाबन्दी निराला कब स्वीकार कर सकते थे। बस खुल गया शकर का तीसरा नेत्र। पृथ्वी कैंपी, मनुष्य घबराए और सर्वत्र कोलाहल हो उठा। निराला मच छोड़ चल दिए। आक्रोश इतना कि जूते हाथ में लिए ही उठ भागे। पसीने से तर-ब-तर फाटक की ओर लपके। द्वार पर कुछ लडकों ने करबद्ध हो उन्हें थामा। एक छोटे छात्र ने पीछे से हाथ का पखा भलना शुरू किया तो दूसरे ने हाथ के जूते पैरो में पहनाये। पीछे घूमकर देखा एक भोला-भाला किशोर हवा कर रहा है। निराला ठंडे हुए, नरम पड़े और उससे पूछा—“क्या चाहते हो?” किशोर ने कहा—“आपकी कविता सुनना चाहता हूँ।” आशुतीष वरदानी हुए—“अच्छा, कविता सुनाऊँगा, किन्तु उस मच पर नहीं।” क्षणों में घास के मैदान पर नया मच बन गया और फिर निराला ने दो घण्टे कविता सुनाई, साथ में उसका मर्म भी बताते रहे।

शिमला हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष ने अपने भाषण में साहित्यकारों के सम्बन्ध में कुछ अद्भुत कह दिया। निराला कब सहन करनेवाले थे। उन्होंने कविता-पाठ करने से इन्कार कर दिया। किस का साहस कि वह निराला के इस निश्चय का विरोध करे। कोई कवि कविता पढ़ने को राजी न हुआ। आकाशवाणी से प्रसारित करनेवाली व्यवस्था धरी रह गई। ऐसे ही काशी के सम्मेलन में जब यकायक बिजली गायब हो गई तो श्रोताओं में भगदड़ पड़ गई, महिलाओं में कोलाहल हो उठा और मच से भी लोग खिसकने लगे। उस समय निराला ने उच्च स्वर में ‘तुलसीदास’ सुनाना आरम्भ किया। क्षण में सब-यथास्थान बैठ गए और उखड़ता कविसम्मेलन जम गया। फिर बाद में प्रकाश की व्यवस्था हो सकी।^१ डा० अमरनाथ झा अपने जन्म-दिवस पर प्रयाग के कवियों को आमन्त्रित करते थे। एक वर्ष निराला को भी बुलाया तो निराला बिगड़े—“हम लोगों को क्या भाँड ससभ रखा है?” और अंग्रेजी में पत्र लिख भेजा—“प्रिय महोदय, यदि आपमें अपनी

कल्पित महानता की सीमाएँ लाँघकर हम लोगो के साथ बबूल की छाया में आने का साहस (गट्स) हो तभी और केवल तभी हम आपके समक्ष काव्य-पाठ कर सकते हैं।”

लखनऊ की अखिल भारतीय प्रदर्शनी के कविसम्मेलन के आयोजकों ने बिना अनुमति प्राप्ति किए ही विज्ञापन कर दिया कि प्रसाद-पन्त-निराला सम्मिलित हो रहे हैं। प्रसाद से भेट होने पर निराला ने कहा—“मैं कदापि आपको, अपने को और पत को कविसम्मेलन के व्यवसाय का साधन न बनने दूँगा। लेखकों के परम शोषक प्रकाशकों के यह सहोदर हो रहे हैं। कविसम्मेलन से पैसा पैदा करते हैं और कवियों को केवल धन्यवाद की नरियल-सुपारी में निपटाते हैं। मैं निश्चय कर चुका हूँ कि जहाँ टिकट या किसी प्रकार का लाभ होगा एक हजार रुपया लूँगा। क्या आपसे आने के लिए पूछा था?” प्रसाद ने कहा—“नहीं भाई, पर इससे क्या? उन्हें लाभ हो तो तुम्हें क्या पड़ी?” निराला बोले—“यह सिद्धान्त की बात है। आप भले ही बरदाश्त कर ले किन्तु मैं इसे कवि का आर्थिक शोषण और साहित्यिक अपमान समझता हूँ। उसका प्रतिकार आवश्यक है। जब शाम को कवि-सम्मेलन आरम्भ हुआ तो निराला तथा प्रसाद प्रदर्शनी के फाटक के बाहर बेच पर बैठे थे। पडाल से आवाजे आई—“कहाँ है प्रसाद-पत-निराला? टिकट के दाम वापस करो।” निरालाजी बोले—“और साथ ही हरजाने के पैसे भी।” संयोजक का आश्वासन विफल हो रहा था और कुर्सियों का टूटना तथा शोर का बढ़ना क्रान्ति आरम्भ की घोषणा कर रहे थे। संयोजक कुछ अन्य संभ्रान्त व्यक्तियों के साथ आकर निराला के सम्मुख खड़े हो गए और क्षमायाचना की। निराला ज़ोर से बोले—“जब पूछने का साधारण सौजन्य भी अनावश्यक समझा गया तो अब अनुनय-विनय की क्या आवश्यकता? मैं हरगिज नहीं जाऊँगा और देखो प्रसाद भी यहीं है। जाकर दर्शकों के पैसे वापस करो और गलती की क्षमायाचना करो।” एक हुंकार लेकर निराला मौन हो गए। उनकी दृढ़ मुद्रा देख

सभी विवश वापस हुए। तब निराला ने प्रसाद से कहा—“आप शायद सम्मेलनवालों पर कसूँगा कर रहे हैं। है भी उनका रोग कसूँगा के योग्य, पर वहाँ आपकी होमियोपैथिक की मीठी गोलियाँ नहीं काम करेंगी, मैंने एलोपैथिक का कडुआ मिक्सचर दे दिया है, रोग शमित होगा।” ऐसे स्वाभिमानी और अडिग थे निराला।

जब निराला कविसम्मेलन अथवा गोष्ठियों में जाते थे, विशेषकर जब उन्हें उनकी अध्यक्षता करनी होती थी, तब अपना नख-शिख शृंगार बड़ी सतर्कता से करते थे। उसके लिए नये कपड़े सिलवाते या धोबी से अर्जेंट कपड़े धुलवाते, दाढ़ी बनवाते, संदल साबुन से खूब स्नान करते, विधिपूर्वक तैयार किया भोजन करते और फिर गहरी निद्रा में सो जाते। चार-पाँच बजे उठकर अपने कान्तिमय शरीर की शोभा बढ़ाने में जुट जाते। इत्र की शीशी बालों पर उँडेल लेते, शीशे के सामने घण्टों बाल सँवारते, एक-एक वस्त्र पहनकर दर्पण की साक्षी लेते। सब शृंगार कर लेने पर फिर कविता के ध्यान में खो जाते। ऐसी तैयारी से मच पर उनका खूब रंग जमता था।

निराला में हास्य एवं विनोद वृत्ति भी पर्याप्त मात्रा में थी। उनका व्यंग्य उनकी अनेक साहित्य-कृतियों में बिखरा पड़ा है। वे जहाँ कहीं अभद्रता, अनियमितता, विषमता एवं क्षुद्रता देखते थे तुरन्त व्यंग्य की गोली दाग देते थे। कहकहे और हास्य के फव्वारों की सृष्टि वे मौलिक रूप से करते थे। एक साहित्यिक गोष्ठी में ‘ललीजी’ और उनके पति एक साथ ही बैठे थे। निराला सबका परिचय देने लगे। अपने बगल में बैठी कवयित्री की ओर सकेत करके उन्होंने कहा—“आप ललीजी हैं।” किसी ने आतुरतावश उनके जगल में बैठे व्यक्ति के बारे में पूछा—“और आप?” निराला ने बड़े शान्त भाव से कहा—“आप लली के लला हैं।” यह सुनते ही जो हँसी के कहकहे छूटे तो बड़ी देर तक बन्द न

कलकत्ता हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर शेरवानी डाटे टोपी लगाए मंच पर मिले। नमस्कार होते ही निराला ने पूछा—“कहिये सखिजन को साथ में लाए कि उन्हें छोड़ अकेले आए ?” रत्नाकर चौक पड़े और व्यग्न किया—“यह तो आप जाने आप लखनऊ से आ रहे हैं।” फिर ‘सखि’ शब्द के अर्थ पर विवादात्मक व्यग्न चलता रहा। महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा जब आए तो उन्होंने बताया कि ‘सखि’ शब्द संस्कृत में मित्र के अर्थ में भी चलता है और बोले—“निरालाजी ने ठीक ही कहा।” तब निराला ने कहा—“रत्नाकरजी को वृजभाषा के कारण गोपियों का भ्रम हो गया होगा।” बड़ी देर तक ठहाका लगता रहा।

एक बार उन्होंने मतवाला के मुखपृष्ठ पर निकाला कि “पत्रों का राजा—मतवाला, पत्रों की रानी—माधुरी।” फिर होलिकाझू में वर-वधू की जन्मपत्र और लग्न दी। कानपुर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रतिनिधि-निवास में सदलवल माधुरी के खेमे में जा पहुँचे और बोले—“लो भाई, हम आ गए बारात लेकर अपनी माधुरी को वरने के लिए।” लोगों में बड़े हास्य और विनोद की सृष्टि हुई। लखनऊ के एक कवि-सम्मेलन में ओरछा-नरेश भी पधारे। मंच पर बैठे निराला ने सुरती और चूना मलना और फटाफट करना आरम्भ किया। तम्बाकू की झार से किसी को छीक, किसी को खाँसी आने लगी तो किसी का मुँह बिचका। निरालाजी बोले—‘खूब फैलकर बैठिये; काफी जगह है। निराला के पास इतनी झार तो रहेगी ही।’

एक रात पंत और निराला रेलगाड़ी द्वारा कालाकाँकर से लखनऊ आ रहे थे। पत नीचे की बर्थ पर लेटे थे और निराला ऊपर की। बीच के किसी स्टेशन पर एक सूट-बूट-धारी अपनी रिजर्व सीट ढूँढते हुए उस डिब्बे में घुसे और पत की ओर बढ़े। निराला ने उनको रोका—“देखिये, जनाना है।” गोरे-पतले हाथ-पैर और बड़े-बड़े केश देखकर वे विश्वास कर गए। किन्तु थोड़ी देर में पत खाँस-खखारकर खड़े हो गए।

तब बाबू साहब निराला पर तयोरियाँ बदलने लगे । किन्तु निराला ने जो बैठ कर अपना सीना चौड़ा किया और लाल-लाल आँखें दिखाईं तो उनके पहलवानी रौब से वे चुप हो गए । जब निराला ने पत से सारा किस्सा कहा तो डिब्बे के दोनो साथी उनसे नाराज और निराला रह-रहकर हँसते-मुस्कराते रहे । फिर आशुकवित्त जागा और बोले :

बन्धु ! क्षमहु अपराध !

तुमहि बान कछु रूसन की है, हमहि मनावन साध ।

कलकत्ता-निवास के समय श्री रामकृष्ण देव के वेलूडमठ में दरिद्र नारायण को भोजन बाँटने का काम निराला ने अपने जिम्मे लिया था । उनमें परदुःख-कातरता इतनी थी कि असहाय की सहायता करने में उन्हें सुख अनुभव होता था । दीन-दुःखियों के त्रास से उनका कोमल हृदय पिघल जाता था और फिर उनके पास जो कुछ भी होता था उससे परम सहानुभूतिपूर्वक दीन बन्धु पर अपना मानवी अर्घ्य चढ़ा देते थे । पैसे का उन्हें लेशमात्र मोह न था, जब पाया कर्ण के हाथों खर्च किया । अपने दुःख-सुख की कभी चिन्ता नहीं की, दूसरों को सुखी बनाने में ही सतोष पाया । जाड़े के दिनों में अपना नया कोट, कम्बल, दुशाला और रजाई मिखारियों को दे आया करते थे । पूछने पर कहते—“एक दुर्बल मिखमगे की जान जा रही थी उसी को ओढ़ा दिया । मेरे शरीर में तो माँस है, जाड़ा सहन हो सकता है । उसके शरीर में तो केवल हड्डियाँ ही थीं । वह शीत से मर रहा था ।” एक शरणार्थी को अपना कम्बल दे डाला तो लोगो ने आलोचना की । निराला बोले—“बिना अभाव और आवश्यकता के कोई हाथ नहीं फैलाता ।” उस व्यक्ति ने अपने परिश्रम से जब अपनी स्थिति सुधार ली तो निराला की सेवा के लिए पहुँचा । वे मुस्कराकर बोले—“मैं सँकल हुआ, जाओ आनन्द करो ।”

दीन-दुःखियों को भोजन भी कराते थे चाहे उन्हें भूखा क्यों न रहना पड़े । खाते समय किसी जीर्ण-क्षीण आवाज के कान में पड़ने ही परसी थाली उसे दे देते थे । एक अन्धे बालक को उन्होंने खूब रसगुल्ले खिलाकर

पूछा—“और खायगा ?” वह बोला “बस मालिक, पेट भर गया । कभी-किसी ने मुझे यह नहीं खिलाया ।” कमला बाबू के यहाँ नागपचमी को भोजन करने बैठे । जब पूड़ी-कचौड़ी की थाली सामने आई तो सहसा उन्हे दारागज के ब्रिज स्टेशन पर बैठनेवाली अपाहिज भिखारिन बुढ़िया की याद आ गई । कमला बाबू के बहुत आश्वासन देने पर भी कि उसे खाना भिजवा रहा हूँ निराला न माने और यह कहकर अपनी थाली ले चल दिए कि ‘उस बुढ़िया की नागपचमी कौन मनायेगा ।’ प्रेमपूर्वक उसे खिलाकर लौटे और फिर स्वयं उस दिन कुछ नहीं खाया । एक रात्रि निराला ने अमीनाबाद की दूकान पर सेर-भर दूध माँगा । दूधवाला जब फेन उतार रहा था तब निकट ठंड से काँपती हुई भिखारिन का करुण स्वर आया ‘रहम करो बाबू ।’ निराला ने भिखारिन की ओर देख, अपना शाल उतारकर उसे ओढ़ा दिया और चलते बने । दूधवाले ने आवाज दी “पंडितजी दूध तो.....” बात पूरी होने के पहले आर्द्र आवाज में उत्तर आया—“उस देवी को पिला देना, हमारी तरफ से ।” दूकान में बैठे इस दृश्य को देखनेवाले एक ग्राहक ने पूछा—“भाई, कौन था यह फरिश्ता ?” दूकानदार ने उत्तर दिया—“चिराग लेकर ढूँढने पर भी ऐसा आदमी नहीं मिलेगा, भइया । इन्हे लोग निरालाजी कहते हैं ।”

कविसम्मेलनों में जाते तो जेब में जितना पैसा होता कवियों की रचनाओं की दाद में बाँट देते । युक्त प्रान्त सरकार द्वारा ‘अपरा’ पर प्राप्त पुरस्कार के इक्कीस सौ रुपये उन्होंने मुशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव की असहाय विधवा पत्नी को पचास रुपया मासिक देने के लिए जमा करा दिए । लोगो ने बहुत चाहा कि उक्त धन का कुछ अंश वह अपने उपयोग में भी लाएँ तो बोले—“वह तो सकल्पित अर्थ है । उसका अपने लिए उपयोग करना अनुचित होगा ।” काशी में मनाई गई अपनी जयंती पर जो धनराशि भेंट हुई उसे विभिन्न साहित्यिक संस्थाओं को देने की घोषणा वही कर दी । ऐसी थी उनकी अर्थ के प्रति निस्पृहता ।

निराला के अस्त-व्यस्त जीवन को व्यवस्थित करने की धुन में श्रीमती महादेवी वर्मा ने उनके तीन सौ रुपये अपने पास जमा कर लिए। उसका विधिवत् बजट बनाकर निराला की स्वीकृति ले ली। दूसरे ही दिन आकर बोले—“पचास रुपये चाहिए। एक विद्यार्थी को परीक्षा-शुल्क जमा करना है अन्यथा वह बेचारा परीक्षा में न बैठ सकेगा।” संध्या को किसी साहित्यिक मित्र की आपत्ति काटने के लिए साठ रुपये ले गए। तीसरे दिन लखनऊ के ताँगेवाले की माँ को चालीस रुपये का मनीऑर्डर करना पड़ा। मध्याह्न में मित्र की भनीजी के विवाह में सौ रुपया देना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार पैसा-पैसा दूसरों के कष्ट-निवारण में खर्च हो गया।

जब तक पैसा रहता औठरदानी की भाँति खुले हाथ बाँटते रहते, खत्म हो जाने पर दोनों हाथ हिला-हिलाकर कहते—“हमारे पास पैसे ही नहीं रहे। अब हमारे हाथ खाली हैं।” ऐसे ही खाली हाथों के दिन एक बार भूख से विह्वल हो परचूनी की दूकान पहुँचे तो उसने पुराने रुपयों का सकेत किया। भिन्नाकर पानवाले के पास पहुँचे उसने भी पुराना हिसाब बताया। आवेग में चल पड़े और चलते-चलते लीडर प्रेस पहुँचे जहाँ से उन्होंने अपनी पुस्तकों के हिमाब के सौ रुपये प्राप्त किये। इक्के में बैठे शेखचिल्ली बने खर्च का ब्यौरा सोचते चले जा रहे थे कि कान में कर्ण आवाज आई—“बेटा इस भूखी भिखारिन को कुछ दे।” इक्का रुका और निराला फुटपाथ पर बैठी बुढ़िया के पास पहुँचे—“माँ कितने रुपये दूँ कि तेरा भीख माँगना बन्द हो जाय?” बुढ़िया ‘बेटा’ कह कर भीचक्की रह गई। निराला सब रुपये उसके हाथ में रखकर चलते बने। बुढ़िया ने जब रुपये सिंहारे तो मैला कुर्ता, फटा पायजामा और बड़े बाल के इस व्यक्ति को नशेबाज या पागल समझा। किन्तु उधर निराला के पास इक्के को किराया देने के लिए पैसे नहीं। श्रीमती महादेवी के यहाँ जाकर सब हाल बताया, उधार लेकर घर लौटे। जिसे जो देना होता था उसे खूब याद रखते थे। पैसा देने में देर-सबेर भले

ही हो जाय किन्तु पैसा प्राप्त होते ही कौड़ी-कौड़ी चुका देते थे। उनको उधार देनेवाले दूकानदारों को प्रायः विश्वास रहता था कि पैसा आते ही निराला घर बैठे दे जाएँगे। कभी-कभी तो उधारी की अदायगी कई बार हो जाती थी। रिक्शे-इक्केवाले भी जान गए थे कि यदि उनसे किराया तय किया तो गिने-गिनाये पैसे मिलेंगे अन्यथा औढ़रदानी से दो-चार रुपये भी मिल सकते हैं।

निराला दीन-दु खियो की सहायता तो करते ही थे साथ में उनके प्रति किए गए किसी के अन्याय को भी सहन न करते थे। लखनऊ में एक साइकिल सवार ने किसी का खोन्चा गिरा दिया और उलटा उसी को डाँटने लगा। निराला उधर से निकल पड़े और सब किस्सा सुनकर सवार से खोन्चेवाले को हरजाना दिलाकर ही वहाँ से टले। इलाहाबाद में ताँगे से बेंत गिर जाने के कारण तीन गोरे सैनिक ताँगेवाले को डरा-धमका रहे थे। निराला ने जो यह अन्याय देखा तो गोरों से बोले—“ताँगेवाले का किराया दे दो। तुम्हारा बेंत गिरने की जिम्मेदारी इस पर नहीं है क्योंकि वह तो आगे बैठकर घोड़ा हाँकता है।” गोरों ने बड़बड़ाना आरम्भ किया तो निराला ने अपनी चादर फेककर उनकी टोपी छीन ली और चाबुक खींचकर बोले—“चुप रहो वरना मारे चाबुक के लाल कर दूँगा। गरीबों की मजदूरी न देगे और माँगने पर मारेगे। अभी जाकर किले में तुम्हारी रिपोर्ट करता हूँ।” निराला का भीमकाय शरीर, उग्र वचन तथा लाल नयन देखकर गोरे समझ गए कि किसी बेढब से साबका पड़ा है। अतएव चुपचाप पैसे दे और टोपी ले चलते बने।

निरालाजी में अनुपम अतिथ्य-भावना थी। अतिथि-सत्कार किए बिना किसी को जाने न देते थे। उसके लिए वे भोजन बनाने से जूठे बर्तन माँजने तक के लिए तत्पर रहते थे। वे उत्तम भोजन स्वयं बनाने-खाने और दूसरों को खिलाने के शौकीन थे। बनावटी शिष्टाचाररहित सत्कार करने का उनका ढंग ऐसा होता था कि आपको नहीं करना

असम्भव हो जाता था। यदि किसी ने जिद्द की तो फिर वे आदेश करते थे। किसी कार्य के सम्बन्ध में उनकी वाणी एक ही बार चलती थी, उसका पालन न होने पर उनके आवेग की भगिमा फूटती थी और अन्त में हुकार की ध्वनि सरपट आक्रमण करती थी।

निराला को पहलवानी का शौक था। बचपन में राज्य के अखाड़े में और कलकत्ता में हजारी दादा के अखाड़े में लड़ने जाया करते थे। हजारी दादा का कहना था कि “ऐसा बेजोड़ लड़नेवाला नवयुवक उस समय कोई नहीं था। फुर्ती इतनी कि अखाड़े में उतरने पर जान पड़ता था कि बिजली टूट पड़ी। साधारण पहलवान इनसे दाँव लगाने में घबड़ाते थे।” निराला को सम्बोधित कर दादा ने कहा—“अब तक लड़ते होने तो क्या हुए होते।” निराला बोले—“दादा, चिन्ता की बात नहीं। मेरे पक्ष में लड़ना ही मिला है। लिखने-पढ़ने के क्षेत्र में भी मुझे लड़ते ही बीता है और उस क्षेत्र में भी अब तक सबको पछाड़ चुका हूँ।” कुश्ती के दाँव-पेंच निराला को बहुत मालूम थे। किन्तु उनकी उनसे चर्चा करना खतरे से खाली नहीं था। सिद्धान्तों से जब वे उनके व्यावहारिक स्वरूप पर उतर आते थे तो यदि श्रोता सावधान न हुआ तो पक्के फर्श पर उसे ऐसी शिक्षा मिल सकती थी कि वह उसे जिन्दगी-भर याद रखे।

निराला के भोजनादि की कोई ठीक व्यवस्था न थी। प्रायः वे ऐसे मकानों में रहे जहाँ बिजली न थी। अतएव वे सवेरे रोटी बना लेते और रात्रि के खाने के लिए कुछ खूँटी पर टाँग देते। बहुधा उनमें घी चुपड़कर गुड के साथ खाते और कहते—“मैं हिन्दी का कवि कलाकार हूँ और मेरी यह रोटी कला की रोटी है।” अक्सर वे होटलों में या मित्रों के यहाँ भोजन कर लेते थे और कभी-कभी भूखे भी रह जाते थे। दोपहर में भोजन के उपरान्त उनकी सोने की आदत थी। नींद इतनी जल्दी आती थी कि यदि किसी ठीके तक न पहुँच पाये तो मार्ग में ही किसी बगीचे या पेड़ के नीचे सो जाते थे। प्रयाग में कई

बार कम्पनी बाग या पुरुषोत्तमदास पार्क में सोते पाए गए। ऐसी अव्यवस्था देखकर श्रीमती महादेवी वर्मा ने एक बार सुझाव रखा कि एक नौकर रख दिया जाए जो उनकी देख-भाल करे। निराला यह सुन चौक पड़े और बोले—“नौकर रख लूँ ? क्या बात आप करती है ! बड़ी बदनामी हो जाएगी। मैं न नौकर बनता, न बनाता। किसी की विपन्नता का फायदा उठाकर उसे नौकर अथवा दास बनाना किसी सामन्त का काम हो सकता है, मेरा नहीं। आपने भी खूब कहा ! महतारी के धुतिया नहीं बिलारी के गतिया बाँधे। खुद खाने का ठिकाना नहीं, ऊपर से एक नौकर रख लूँ।”

केवल लेखनी के सहारे जीवन-यापन करनेवाले निराला की विवशता का लाभ उठाकर प्रकाशकों और सम्पादकों ने उनका खूब शोषण किया। कवि के साथ सहानुभूति दिखाना तो दूर रहा, उसकी कृतियों को माटी मोल लेकर उल्टा उस पर उपकार करने का ढोंग रचते रहे। सम्पादक उनसे अमुक-तमुक ढंग की कविताएँ माँगते तो वे क्षुब्ध होकर कहने—“सृजन मे कवि स्वतन्त्र है। मैं फरमायशी काम नहीं करता।” सन् 1916 से निराला ने लिखना आरम्भ किया और उनकी प्रारम्भिक रचनाओं की आज भी सर्वश्रेष्ठ में गणना होती है, किन्तु तेरह वर्ष तक उनका कोई मग्न प्रकाशित न हो सका। उनकी कृतियों के अच्छे सस्करण न निकल सके। और अब भी उनकी बहुत-सी सामग्री इधर-उधर बिखरी अप्रकाशित पड़ी है। वे रामायण की टीका करना चाहते थे किन्तु छापनेवाला कोई न मिला, यद्यपि बाद में गंगा पुस्तकमाला से कुछ अंश प्रकाशित हुए। उनकी कृतियाँ कभी मूल्य पर नहीं चढ़ी। अपने कृतित्व का मूल्य उन्होंने यह लिया कि वे स्वयं भूखे रहे। प्रकाशकों के दुर्व्यवहार से दुःखित हो वे सदा नये-नये प्रकाशक ढूँढ़ते रहे। रोगावस्था में भी वे उनके दुर्व्यवहार को न भुला सके। एक मित्र के यह पूछने पर कि उन्होंने लिखना क्यों बन्द कर दिया है निराला बोले—“साधक और तपस्वी भूखो मर-मरकर अपना हृदय लेखनी की

सहायता से कागज पर उतारते रहते हैं, परन्तु प्रकाशक उनका रक्त चूसना अपना धर्म समझते हैं। भला ऐसे लोगों के लिए कुछ लिखना और फिर उनकी कटूक्तियाँ सुनना कहाँ की बुद्धिमानी है !”

रामकृष्ण मिशन के सम्पर्क से तथा विवेकानन्द की कृतियों को ‘चाट जाने’ से वे आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित हो गए थे। जीवन में कई बार उन्होंने सन्यास लेने की तैयारी की किन्तु हिन्दी की ममता और मित्रों के आग्रह के कारण वे सन्यासी न हो सके। कलकत्ता-निवास के समय एक बार जनकोलाहल और सन्ध्या की उदासी से वे इतना ऊब उठे कि चम्पाल घाट के एक छोर पहुँचकर उन्होंने मुण्डन करा, वस्त्र त्याग, कोपीन धारण कर लिया था। अर्द्धरात्रि को जब ज्योत्स्ना की शीतलता और निर्जनता के स्तब्ध विस्तार ने उनके चित्त को शान्ति दी तो विरक्ति का विचार उतर गया। उन्होंने सोचा धर्मपत्नी की मृत्यु के पश्चात् से ही उनकी गृहस्थी समाप्त हो गई, वे तभी से सन्यासी हैं। बस वहाँ से उसी वेश में लौट पड़े। इसके बाद सन् 1938 में उनके सन्यास लेने के समाचार निकले और सन् 1949 में तो वे एक महीने के व्रत का अनुष्ठान ही करके बैठ गए थे। किन्तु मित्रों के समझाने से वे मान गए। यद्यपि उन्होंने बाह्य रूप से सन्यास नहीं धारण किया किन्तु अपने अन्तःकरण में उन्होंने सन्यासी के सभी गुण अपना लिए थे। घर में वस्तुओं और शरीर पर वस्त्रों की न्यूनता उनके अपरिग्रही स्वभाव का ज्वलन्त द्योतक थी। उनमें अर्थ के प्रति निस्पृहता, मन की निर्विकारता, उदार दार्शनिकता, भ्रमणप्रियता, अन्तर्मुखी स्वभाव तथा चिन्तन-डुबकी लगाने की क्षमता आदि अनेक गुण सन्यासी के ही थे।

दूसरे महायुद्ध काल में निराला को अपार कष्ट भेलना पड़ा। और कोई व्यक्ति होता तो इन यातनाओं से टूट-फूट जाता, किन्तु अदम्य पौरुष का निराला ही यह सब भेल गया। कागज पर नियंत्रण होने से पत्र-पत्रिकाएँ समाप्तप्राय हो रही थी। उनकी रचनाओं के प्रकाशन की व्यवस्था जाती रही। पुरानी कृतियों के कापीराइट बिक चुके थे। खाने-

पीने-पहनने की वस्तुओं का अभाव हो गया था। देश की दरिद्रता और स्वतंत्रता के प्रश्न रह-रहकर उनकी राष्ट्रीय भावना को उद्बेलित कर देते थे। कुछ कहो तो गुनाह, कुछ लिखो तो गुनाह और कुछ करो तो आफत। उनकी स्वयं की विवशताएँ सीमाएँ निर्धारित किए हुए थीं। अतएव वे शान्ति की खोज में तथा शारीरिक परिश्रम करके जीविकोपार्जन करने के इरादे से चित्रकूट पहुँचे। 'जापर विपदा पडत है सो आवत यहि देश।' वहाँ उनके दैहिक, दैविक एवं भौतिक ताप पहाड़ी ज्वर के रूप में प्रकट हुए जिसने उनके शरीर को तोड़ दिया। लगभग मरणसन्न अवस्था में मित्र उन्हें प्रयाग ले आए, जहाँ बड़े उपचार और सुश्रूषा से वे अच्छे हो सके किन्तु इस सबका उनके मस्तिष्क पर भारी प्रभाव पड़ा।

आरम्भ से ही निरालाजी की स्थिति भावजगत् में अधिक होती थी, व्यवहारजगत् में उपस्थिति अल्प ही रहती थी। बात करते-करते वे यकायक अपने में खो जाते, चिन्तन की डुबकी लगा जाते, दार्शनिक शून्यता मुखमण्डल पर बिखेर देते थे। एकान्त में कुछ स्वतः बड़बड़ाया करते और बीच-बीच में उच्च स्वर से अट्टहास कर उठते थे। स्वगत भाषण करना उनका स्वभाव हो गया था, किन्तु किसी की उपस्थिति होते ही वे प्रकृतिस्थ हो जाते थे। पहले भी प्रायः भावों में विचरते हुए ऐसी बात या कार्य कर बैठते थे जो व्यवहार-जगत् में सहज सम्भव नहीं जान पड़ता। उनकी बातें पहले भी कभी-कभी घनघोर रूपकों में दुरूह हो जाती थी जिससे लोग उन्हें पागल की संज्ञा तक दे डालते थे। किन्तु जीवन की कठोर वास्तविकता के साथ आत्मसम्मान की रक्षा का प्रयत्न उनमें ऐसा द्वन्द्व उत्पन्न करता रहा कि जिससे उनका मानसिक तनाव निरन्तर बढ़ता गया जो उनके भीतरी व्यक्तित्व को बराबर प्रभावित करता रहा और अन्त में उनकी ऐसी दशा कर दी कि वे निरन्तर भावावेश में ही रहने लगे, स्वगत भाषण करने लगे और भयंकर अट्टहास से लोगो को भयभीत करने लगे। वे स्वामी विवेकानन्द

रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रानी एलिजाबेथ, पंडित नेहरू आदि से बातें करने का उल्लेख करते; अपने को पहला डी० लिट्० बताते; अपनी दाढ़ी को रवीन्द्र तथा अरविन्द की दाढ़ी से बढ़कर गिनते; इङ्गलैण्ड के प्रवक्ता का विवरण और ईरान में घोड़े दौड़ाने की चर्चा करते रहते थे। कभी-कभी वे एकदम प्रसन्न मुद्रा में तो कभी परम उदासीन हो जाते थे।

इस अवस्था में भी वे मौज आने पर सुन्दर कविताएँ लिखते और मिलनेवाले मित्रों से ठीक बातें करते थे। एक पुराने मित्र ने उनसे कह ही तो दिया—“निरालाजी, लोग कहते हैं कि आप पागल हो उठे हैं?” इस पर निराला ने हँसकर कहा—“तो कौन-सा अनर्थ करते हैं। वे हमें जैसा समझते हैं वैसा ही तो कहते हैं। सभी मनुष्य अपने जीवन में कई बार पागल-विक्षिप्त होते हैं—कभी कम और कभी अधिक। जब हम कम पागल होते हैं तब कविता करते हैं और जब अधिक पागल होते हैं तो कविता की कपालक्रिया करते हैं। यदि इस समय कुछ लोगों की समझ में हम विक्षिप्त हो उठे हैं तो इसमें बुरा मानने जैसी कौन-सी बात है।” फिर कुछ कड़ककर बोले—“हमने अपनी लेखनी को विराम दे दिया है और हिन्दी-सेवा की ओर से अपना मुख मोड़ लिया है। अब लोग हमें चाहे सिड़ी बताये चाहे विक्षिप्त, हमारी बला से।”

कवि, विक्षिप्त और प्रेमी की कल्पना समानधर्मा होती है फिर उनकी विक्षिप्तता में तो एक पद्धति भी थी। वनडिहार्ट ने लिखा है कि “जो व्यक्ति मध्ययुग में उच्च स्थिति और सम्मान के अधिकारी होते हैं, सम्भव है आगे चलकर मानसिक व्याधि के शिकार बने।” मनो-वैज्ञानिक एडलर इत “जीवन की निरन्तर विषमता और संघर्ष से उत्पन्न तीव्र मानसिक मलिनता मानता है।” प्रतिभा को पग-पग पर कुण्ठित करने के प्रयत्न ऐसी ही व्याधि उत्पन्न करते हैं। खेद है कि जिन्होंने उन्हें ऐसी दशा पर पहुँचाया वे उन्हें विक्षिप्त कहने में लज्जा अनुभव नहीं करते, प्रायश्चित्त की बात कौन कहे। इस व्याधि में

निराला दस-बारह साल मित्रों की देख-रेख में प्रयाग में पड़े रहे और अन्त में अक्टूबर 1961 में उनकी मृत्यु हो गई।

निराला जीवन-पर्यन्त अविराम संघर्ष, निरन्तर विरोध और सतत उपेक्षा का डटकर सामना करते रहे। उनके पौरुष और कर्मठता के कारण उनसे गतिरोध उत्पन्न न हो सका वरन् सदा नई गति ही प्राप्त हुई। भले ही उन्होंने निराला को क्षतशील कर पाया हो किन्तु वे कभी नतशील नहीं हुए। घोर-से-घोर विपन्नावस्था में भी उन्होंने अपना ऊँचा मस्तक किसी के आगे तनिक नहीं झुकाया, निम्न-से-निम्न परिस्थितियों में भी वह सम्राट् की तरह गर्वोन्नत रहकर औढ़रदानी बने रहे, भीषण-से-भीषण तूफानों के भोंकों में भी वह चट्टान की तरह अडिग खड़े रहे, दुःख-से-दुःख अस्वस्थता के बीच भी वह विशुद्ध अन्तर्ज्ञान के मूर्तिमान प्रतीक बने रहे। जैसा सहज संघर्ष उनका मौलिक जीवन के घटिया मूल्यों से आजीवन चलता रहा, उसी सहज भाव से वे मृत्यु से भी लड़ते रहे। उनकी प्रखर प्रतिभा, गम्भीर दर्शन एवं सजग कला की त्रिवेणी हिन्दी साहित्य जगत् में सदा प्रवाहित रहेगी। संघर्षशील मनुष्य उन्हें एक शानदार, आस्थावान, कभी नतमस्तक न होनेवाले मानव के रूप में सदा सम्मान देता रहेगा। इस ज्योतिषज के सशक्त तेज ने क्रान्ति और उन्मुक्त मानवता का जो पाठ हमें सिखाया है वह सहसा भुलाया न जा सकेगा। युग की नादानी इस औढ़रदानी को समझकर भी न समझ सकी। उन्हें हमारे साहित्य का हलाहल-पायी शिवत्व प्राप्त है। आगे आनेवाली पीढ़ी को कदाचित् विश्वास न होगा कि ऐसा औढ़रदानी कभी इस धरती पर डोलता-फिरता भी होगा।